अपनी धरोहर

स्मारिका– 2026

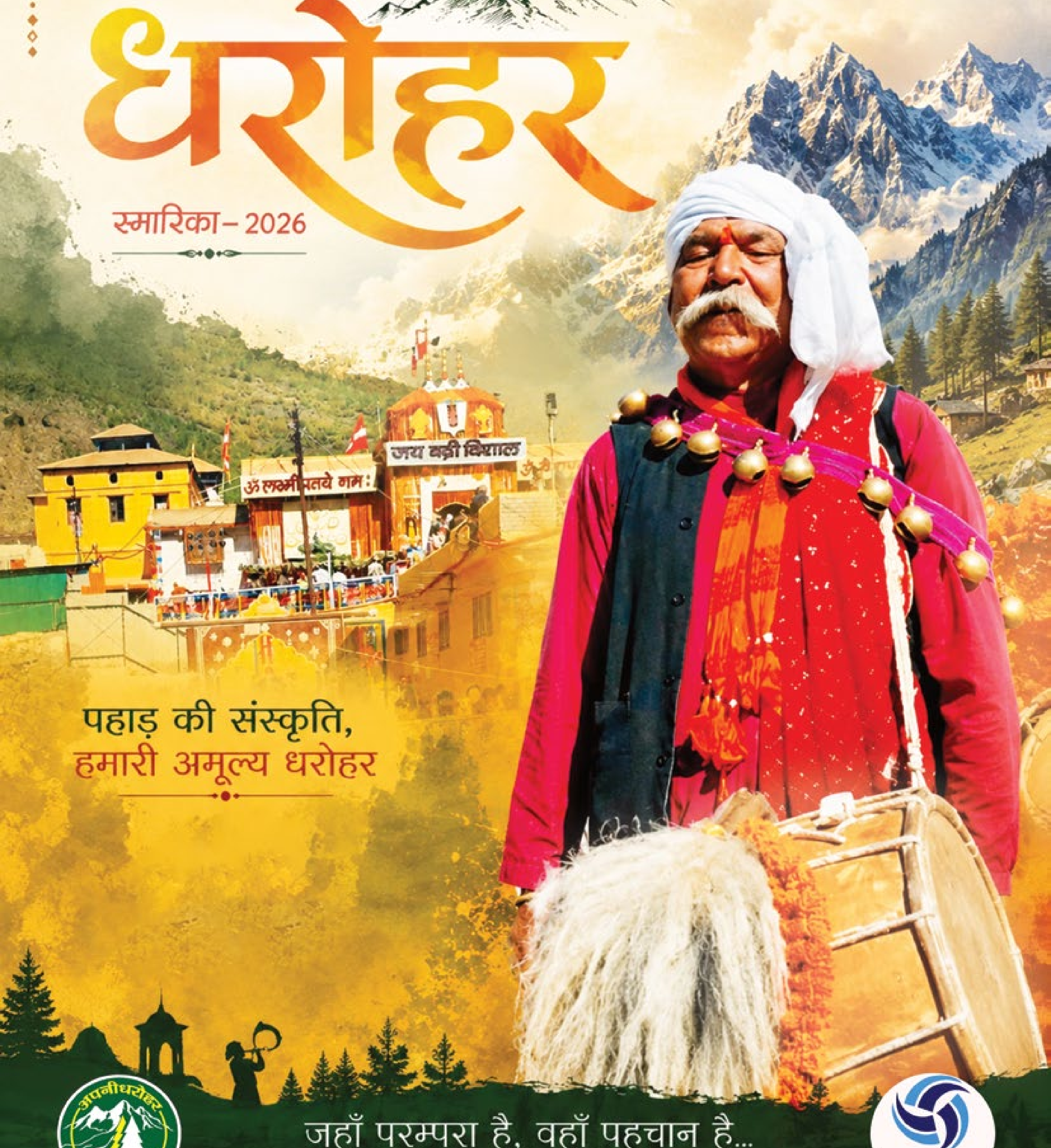

पहाड़ की संस्कृति,
हमारी अमूल्य धरोहर

अपनीधरोहर

जहाँ परम्परा है, वहाँ पहचान है...

THDC

अपनी धरोहर

स्मारिका – 2026

संरक्षक
प्रो. दाताराम पुरोहित

अध्यक्ष
विजय भट्ट

संपादक
दीपक पुरोहित

संपादन मंडल
दिनेश सेमवाल
गणेश खुगशाल गणी
नीलाम्बर पाण्डेय
डॉ. सोहनलाल
मोहन राम दास
गुरमीत सिंह
हरीश जोशी
सतीश पांडे
नीलम ध्यानी जुयाल
सुनीता जोशी
वीरेंद्र बिष्ट
दिनेश बम

डिजाइन
मोहित नौटियाल

प्रकाशक
अपनी धरोहर सोसायटी
(हिमालय की संस्कृति की रक्षा हेतु समर्पित)
कोहली कॉलोनी, छोटी मुखानी
हल्द्वानी, जिला नैनीताल
Reg.No.- UK0660882021006657
9027075522
apnidharoharsociety@gmail.com
www.facebook.com/apnidharohar

अनुक्रम

संपादकीय: उत्तराखंड की संस्कृति का असली संकट ● **दीपक पुरोहित** पेज >> 3

अध्यक्ष की कलम से: "अपनी धरोहर न्यास" संस्कृति, समाज और उत्तराखंड को जोड़ने की एक जीवंत पहल ● **विजय भट्ट** पेज >> 4

उत्तराखंड में वाद्य यंत्रनको महत्व ● **नीलाम्बर पाण्डेय** पेज >> 5-7

श्री गोल्ज्यू यात्रा क्यों जरूरी है ? ● **विजय भट्ट** पेज >> 8-10

आखिर क्या है उत्तराखंड का ढोलसागर ? ● **दिनेश सेमवाल** पेज >> 13-16

उत्तराखंड का ढोल—दमाऊ: इतिहास, लोकमान्यता और आधुनिक शोध क्या कहते हैं ● **दीपक पुरोहित** पेज >> 17-20

हिमालय की गोद में सिख धरोहर ● **गुरमीत सिंह चंडोक** पेज >> 21

उत्तराखंड में क्यों जरूरी है संस्कृति, त्योहार और भाषा का संरक्षण ● **सतीश पांडे** पेज >> 24-27

गढ़वाळ मा ढोल—दमौ अर वूंकि चाल ● **गणेश खुगशाल गणी** पेज >> 28-29

उत्तराखंड की पौराणिक व ऐतिहासिक कत्यूर घाटी : एक सिंहावलोकन ● **हरीश जोशी** पेज >> 30-32

उत्तराखण्ड की संस्कृति में मातृशक्ति का महत्व : गोल्ज्यू यात्रा के संदर्भ में ● **नीलम ध्यानी, जुयाल** पेज >> 33-35

ढोलसागर की परम्परा, सम्मान और भविष्य ● **डॉ. सोहनलाल** पेज >> 36

परम्परा, सम्मान व आत्मगौरव का माध्यम है ढोलसागर ● **मोहन राम दास, ढोल वादक** पेज >> 37

गंगोत्री धाम में गोल्ज्यू देवता की ऐतिहासिक यात्रा ● **वीरेंद्र बिष्ट** पेज >> 39

आधुनिक उत्तराखंड में मातृशक्ति की भूमिका ● **सुनीता जोशी** पेज >> 40-43

स्वावलंबन से सशक्त होगी संस्कृति, संस्कृति से सुरक्षित होगा उत्तराखण्ड ● **दिनेश बम** पेज >> 44-45

हिमालय की धड़कन: गढ़वाल का लोक संगीत और ढोल सागर का नाद सौन्दर्य ● **प्रो. दाताराम पुरोहित** पेज >> 46-48

श्री पुष्कर सिंह धामी जी
माननीय मुख्यमंत्री, उत्तराखंड

कार्यालय–नगर निगम, काशीपुर
जिला– उधमसिंह नगर

श्री दीपक बाली जी
महापौर काशीपुर

शुभकामना सन्देश

राज्य स्थापना के 25 वर्ष पूर्ण होने पर धरोहर संवाद स्मारिका एवं स्मारिका परिवार को नगर निगम, काशीपुर की ओर से हार्दिक शुभकामनाएं अर्पित करते हुए नगर निगम की निर्वाचित बोर्ड द्वारा किये गये कार्यों की झलक–

01. नगर निगम काशीपुर की 07 फरवरी 2025 को निर्वाचित बोर्ड द्वारा मा0 मुख्यमंत्री जी के अविस्मरणीय सहयोग से 100 करोड़ की लागत से 732 सड़कों का निर्माण।
02. नगर की सफाई व्यवस्था हेतु अत्याधुनिक कंट्रोल रूम स्थापना एवं 35 नये कूड़ा वाहनों को उपलब्ध कराने हेतु मा0 मुख्यमंत्री जी का आभार।
03. नगर क्षेत्र में 5000 स्ट्रीट लाइट स्थापना कार्य।
04. ए०वी०सी० कैम्प की स्थापना एवं मा0 मुख्यमंत्री जी के करकमलों से 09 मार्च 2025 को ऑपरेशन अभियान का शुभारम्भ।
05. नगर क्षेत्र की पेयजल लाइनों के सुधार हेतु जल संस्थान को 4 करोड़ की राशि हस्तानान्तरण।
06. नगर निगम द्वारा उपविधि के माध्यम से ई–रिक्शा संचालन के पंजीकरण को अनिवार्य किया गया है जो निगम आय वृद्धि के लिये मील का पत्थर है।
07. नगर निगम द्वारा आय वृद्धि के लिये ट्रेड लाइसेंस की मदों में एक रूपता लाते हुए 176 मदों को लाइसेंस के दायरे में लाया गया है।
08. नगर निगम द्वारा पशु शवदाह गृह निर्माण की प्रक्रिया गतिमान है।
09. नगर क्षेत्र में हरियाली विकसित करने एवं प्रदूषण रोके जाने हेतु जगह–जगह वर्टिकल गार्डन एवं ग्रीनरी कार्य की प्रक्रिया गतिमान है।
10. नगर निगम की आय वृद्धि हेतु आगामी वर्ष के अंत तक निगम क्षेत्र में 500 दुकानों के निर्माण की प्रक्रिया गतिमान है।

(रविन्द्र सिंह बिष्ट)
नगर आयुक्त

(दीपक बाली)
महापौर

संपादकीय

उत्तराखंड की संस्कृति का असली संकट

उत्तराखंड की संस्कृति की पहचान उसके लोक संगीत, पारंपरिक मेलों और स्थानीय देवी देवताओं से है। लेकिन आज यह पहचान एक ऐसे दोराहे पर खड़ी है, जहां दिखावा हमारी गहरी जड़ों पर हावी हो रहा है। हम संरक्षण की बात तो बहुत करते हैं, लेकिन ज़मीनी हकीकत यह है कि हम अपनी संस्कृति के मूल वाहकों को ही पीछे छोड़ते जा रहे हैं।

हम सभी ढोल–दमाऊं की थाप पर नाचना चाहते हैं। उस गूंज में हमें अपना पहाड़, अपनी मिट्टी और अपनी विरासत महसूस होती है। लेकिन क्या हम कभी उस ढोल को गले में टांगकर पसीना बहाने वाले वादकों की चिंता करते हैं? संस्कृति का संरक्षण केवल वाद्ययंत्रों को सजाकर रखने या मंचों पर उनका प्रदर्शन करने से नहीं होता। यह तब बचती है जब उस कला को साधने वाले हाथ आर्थिक और सामाजिक रूप से सुरक्षित हों।

आज पारंपरिक ढोल वादकों के सामने आजीविका का गंभीर संकट है। पहले गांव की अर्थव्यवस्था और 'दस्तूर' व्यवस्था में उनका एक तय हिस्सा होता था, लेकिन बदलते वक्त ने वह आर्थिक सुरक्षा छीन ली है। जब तक समाज और व्यवस्था इन कलाकारों को सम्मानजनक जीवन और सुनिश्चित आय नहीं देगी, तब तक नई पीढ़ी इस कला को क्यों अपनाएगी? कड़वा सच यह है कि हम केवल संस्कृति का उपभोग करना चाहते हैं, उसके संरक्षकों का पोषण नहीं।

यही विडंबना हमारे पारंपरिक कौथिक, मेलों व बग्वाल उत्सवों के साथ भी है। हमारे गांव, कस्बों के पौराणिक मेले व कौथिक अपना स्वाभाविक आकर्षण खोते जा रहे हैं, और उनकी जगह बड़े सरकारी बजट से पोषित 'महोत्सव' ले रहे हैं। मेले और महोत्सव के बीच का अंतर केवल आयोजन के स्तर का नहीं, बल्कि आत्मा का है।

उत्तराखंड की असली संस्कृति वह है जहां किसी कौथिक व मेले में जाने के लिए लोगों को निमंत्रण पत्र नहीं भेजना पड़ता। एक तय दिन, एक तय समय और एक तय स्थान पर पूरा गांव, पूरी घाटी यहां तक की पूरी पट्टी बिना किसी बुलावे के स्वतः जुट जाती है। यह एक जैविक प्रक्रिया है। ये पारंपरिक कौथिक व मेले केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि रिश्तेदारों से मिलने, स्थानीय कृषि उत्पादों और हस्तशिल्प के व्यापार का मुख्य केंद्र हुआ करते थे।

इसके विपरीत, इन दिनों हो रहे महोत्सव पूरी तरह से कृत्रिम हैं। वहां भीड़ जुटाने के लिए कार्ड बांटने पड़ते हैं, वीआईपी अतिथियों का इंतजार होता है और टेंटों के नीचे संस्कृति का प्रायोजित प्रदर्शन होता है। सरकार महोत्सव करवा रही है, यह उसका प्रशासनिक काम हो सकता है, लेकिन समाज के रूप में हमारी जिम्मेदारी अपने उन प्राकृतिक मेलों को बचाने की है जो हमारे आपसी जुड़ाव और सामाजिक ताने–बाने की रीढ़ रहे हैं। कौथिक व मेलों का मरना केवल एक आयोजन का खत्म होना नहीं है, बल्कि उस सामुदायिक चेतना का मरना है जो बिना बुलाए सुख–दुख में खड़ी हो जाती थी।

ठीक यही स्थिति हमारे इष्ट और स्थानीय देवी–देवताओं के साथ हो रही है। देव डोलियों का उठना, जागर लगना और ग्रामीण अनुष्ठान कभी हमारे रोजमर्रा के जीवन और सामूहिकता का हिस्सा हुआ करते थे। आज यह सब सिमटता जा रहा है। एकांत में रहने के आदी हमारे देवताओं के थान कंक्रीट से भव्य बनाए जा रहे हैं, लेकिन उनके आंगन से वह सामूहिक जुड़ाव और स्पंदन गायब हो रहा है जो कभी हमारी पहचान था। हमने अपनी देव परंपराओं को भी अब साल में एक बार होने वाले 'इवेंट' की तरह बना दिया है। जब तक अनुष्ठानों में गांव की धड़कन शामिल नहीं होगी, तब तक केवल ईंट–पत्थर के मंदिरों से देव संस्कृति जीवित नहीं रहेगी।

उत्तराखंड की संस्कृति को बचाने का मतलब केवल मंचों पर पहाड़ी गीत गाना या पुरानी यादों को भुनाना नहीं है। संस्कृति तब बचेगी जब हम उसके मूल वाहकों को बचाएंगे। हमें कृत्रिम महोत्सवों की चकाचौंध से बाहर निकलकर अपने उन मेलों की ओर लौटना होगा जो हमारी माटी से उपजे हैं। यदि हम ढोल–दमाऊं बजाने वाले के जीवन को सुरक्षित नहीं कर सकते, और अपने मेलों को जीवित नहीं रख सकते, तो एक दिन हमारी यह समृद्ध विरासत केवल फाइलों और सरकारी महोत्सवों के मंचों तक ही सीमित रह जाएगी।

संस्कृति समाज के स्वतः स्फूर्त होने से बचती है, प्रायोजित आयोजनों से नहीं।

– दीपक पुरोहित

अध्यक्ष की कलम से

"अपनी धरोहर न्यास"

संस्कृति, समाज और उत्तराखंड को जोड़ने की एक जीवंत पहल

उत्तराखंड केवल पहाड़ों का प्रदेश नहीं है, यह लोक परंपराओं, मेलों, त्योहारों, लोकभाषाओं, गीतों और साझा सामाजिक मूल्यों की जीवित धरोहर है। बदलते समय में जब गांव खाली हो रहे हैं, लोककला सीमित होती जा रही है और नई पीढ़ी अपनी जड़ों से दूर होती दिख रही है, ऐसे दौर में "अपनी धरोहर न्यास" ने एक सकारात्मक और संवेदनशील पहल के रूप में अपनी पहचान बनाई है।

"अपनी धरोहर न्यास" का गठन 16 जुलाई 2021 को हरेला पर्व के शुभ अवसर पर सामाजिक पौधारोपण कार्यक्रम के साथ किया गया। यह केवल एक संगठन की शुरुआत नहीं थी, बल्कि उत्तराखंड की सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक एकजुटता और जनभागीदारी को मजबूत करने का एक सामूहिक संकल्प था।

न्यास की पहली बैठक बागेश्वर में आयोजित हुई, जहां से संगठन की भावी दिशा तय हुई। इसके बाद नैनीताल अधिवेशन में "श्री गोल्ज्यू संदेश यात्रा" निकालने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया। इस यात्रा का उद्देश्य उत्तराखंड के विभिन्न क्षेत्रों को सांस्कृतिक और भावनात्मक रूप से जोड़ना था। प्रथम और द्वितीय यात्रा के दौरान प्रदेश के अनेक सामाजिक संगठनों, मंदिर समितियों, युवाओं, महिलाओं और प्रवासी उत्तराखंडियों का उल्लेखनीय सहयोग देखने को मिला।

इन यात्राओं ने केवल दूरी नहीं घटाई, बल्कि लोगों के बीच संवाद और जुड़ाव भी बढ़ाया। महिला सम्मेलन, युवा सम्मेलन और दिल्ली प्रवासी संवाद जैसे कार्यक्रमों ने न्यास को एक सकारात्मक सामाजिक मंच के रूप में स्थापित किया, जो बिना किसी राजनीतिक आग्रह के राज्य के विकास और सांस्कृतिक संरक्षण की दिशा में कार्य कर रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में न्यास ने कई रचनात्मक और सार्थक कार्यक्रम आयोजित किए हैं। इनमें "धरोहर संवाद–2025, श्रीनगर गढ़वाल" विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा। इस आयोजन ने साहित्यकारों, लोक कलाकारों, संगीतकारों, किसानों और सांस्कृतिक क्षेत्र से जुड़े लोगों को एक साझा मंच दिया, जहां उन्होंने अपने अनुभव, परंपराएं और लोकज्ञान नई पीढ़ी तक पहुंचाने का प्रयास किया।

समय के साथ तकनीक के महत्व को समझते हुए न्यास अब अपनी सांस्कृतिक विरासत को डिजिटल रूप देने की दिशा में भी कार्य कर रहा है। इसी उद्देश्य से "ई–धरोहर" नामक डिजिटल प्लेटफॉर्म की योजना तैयार की गई है। इस मंच पर लोकसाहित्य, दुर्लभ दस्तावेज, गीत–संगीत, वीडियो, ऑडियो और अन्य सांस्कृतिक सामग्री को डिजिटल रूप में सुरक्षित किया जाएगा, ताकि आने वाली पीढ़ियां अपनी जड़ों से जुड़ी रह सकें।

आज "अपनी धरोहर न्यास" एक विचार से आगे बढ़कर जनसहभागिता का एक सशक्त अभियान बन चुका है। पिछले वर्षों में प्रशासन, सामाजिक संगठनों, बुद्धिजीवियों और आम नागरिकों के सहयोग ने इसकी यात्रा को और मजबूत बनाया है।

न्यास का मूल उद्देश्य स्पष्ट है, उत्तराखंड की सांस्कृतिक आत्मा को संरक्षित रखते हुए समाज के हर वर्ग को विकास की प्रक्रिया से जोड़ना। यही प्रयास आने वाले समय में प्रदेश की पहचान और सामाजिक शक्ति को नई दिशा देने का काम करेगा।

जब हम इस यात्रा को देखते हैं, तो महसूस होता है कि यह केवल संगठन निर्माण की कहानी नहीं, बल्कि अपनी मिट्टी, अपनी संस्कृति और अपनी पहचान को बचाए रखने का एक ईमानदार प्रयास है।

– विजय भट्ट
अध्यक्ष, अपनी धरोहर न्यास

नीलाम्बर पाण्डेय
साहित्यकार एवम्
पूर्व निदेशक, भारत सरकार
लेख- कुमाउनी में

उत्तराखंड में वाद्य यंत्रनको महत्व

ईश्वर निर्मित प्रकृति जतुक सौन्दर्यात्मक छ उतकै ध्वन्यात्मक ले छ। वर्षा कि रिमझिम, नदीन् कि कल–कल, हवा कि सरसराहट, बादलन् कि गर्जन, पक्षिन् को कलरव, हर प्राणी कि अलग–अलग आवाज यो सबै एक नैसर्गिक संगीत प्रदान करना छन। सुर ताल को संयोजन, वाणी–वाद्य को संगम, प्रकृति और पुरुष को समागम योई त् सब संगीतको जन्म दिना छन्। संगीत केवल आमोद प्रमोद नै बल्कि परमानंद कि प्रतीति ले करूंछ। कोई ले उत्सव और समारोह, संगीत एवं वाद्य यंत्र बिना अधूरा छ। हमरि उत्तराखंड कि संस्कृति में ले समयानुकूल संगीत और वाद्य यंत्रन् को भौत महत्व छ। उत्तराखंड में अनेक प्रकारा का वाद्ययंत्र प्रचलित छन जसिकै ढोल, ढोलक, दमाऊ हुड़का, डमरू, तुरी, रणसिंघा, मशकबाजा, झांझ, खड़ताल, हारमोनियम, तबला, बांसुरी, बीन बाजा, गिटार, वीणा, शंख, घंटा, खांकर, घुंघरू, मोरछंग, घांणु, भांणु, भंकोरा आदि।

नाट्यशास्त्र का रचयिता भरत मुनि ले वाद्ययंत्रन् को चार भागन में विभाजन करि राखौ छ।

अनवद्धः–जै वाद्य यंत्रन् में चमड़ा को प्रयोग करी जांछ और हाथ या लकड़ी का डंडान ले बजाई जांछ। ढोल, दमाऊं, तबला, ढोलक, पखावज, मृदंग एका उदाहरण छन्।

घन वाद्यः–जो ठोस धातु ले बनाई जानान्। घंटा, चिमटा, मंजीरा, करताल घन वाद्य कि श्रेणी में ऊंनान।

सूषिर वाद्यः–वायु या फूंक द्वारा जो बजाई जानान्। शंख, बांसुरी, मसकबीन, अलगोजा एकि श्रेणी में ऊंनान।

तत्,(तंत्री) वाद्यः–इन वाद्य यंत्रन् में धातु कि तार

प्रयोग करी जांछे। तानपुरा,वीणा, सारंगी,सितार, इकतारा, हारमोनियम एका उदाहरण छन्।

नारद कृत संगीत मकरंद में इनार पांच भेद बताई गईं।

नखजः नाखूनन् कि मदद ले जो बजाई जानीं जसिकैं वीणा, गिटार, हारमोनियम।

वायुजः जो फूंक मारि बेर बजाई जानीं, शंख, बांसुरी,मसक, तुरही आदि।

चर्मजः ढोल, ढोलक, दमाऊं, हुड़का, डमरू आदि।

लौहज : घंटी, चिमटा, झांझर,खरताल आदि।

शरीरजः मुंख कि आवाज या ध्वनि द्वारा संचालित गायन और संगीत।

इन तमाम वाद्ययंत्रन् में उत्तराखंड में ढोल,दमाऊ मसकबीन,हुड़को, ढोलक विशेष पारंपरिक महत्व का छन्। गढ़वाल में ढोल विशेष महत्व को छ। कुमाऊं में ढुल दमाऊ और नानुं दमाऊ ज्यादा प्रचलन में छन्। इनार बिना उत्तराखंडी लोक संगीत कि कल्पना नीं करि सकीन। हुड़को उत्तराखंड राज्य क् संगीत को प्रतीक वाद्ययंत्र छ।

उत्तराखंड में क्वे‌ले उत्सव और मांगलिक संस्कार को शुभारंभ ढोल दमाऊं का साथ हुंच। राजा-रजवाड़ान् का समय

में इनोरो प्रयोग युद्ध, विजय, सूचना आदि कि कूट भाषा का रूप में करना को प्रचलन बताई जांछ। सबै वाद्ययंत्रन् कि लय,ताल, ध्वनि आवृत्ति को एक निश्चित अनुशासन हुंच्,इस नै हुनु कि क्वेले,कभै ले,कसी कै ले बजाई जाओ।

गढ़वाल में ढोल पर वर्ष १९१३ बटी अनेक विद्वान लोगन् द्वारा शोध कार्य जारी राख्यों छ। गत वर्ष "अपनी धरोहर" संस्था का निमंत्रण पर मैं कैं हेमवती नंदन बहुगुणा विश्वविद्यालय, श्रीनगर जाना को सौभाग्य मिलो। ये संस्था का संस्थापक और संयोजक मूलतः पिथौरागढ़ निवासी श्री विजय भट्ट ज्यू छन जो लोकप्रिय विद्वान समाजसेवी छन् और उत्तराखंड कि धरोहर,लोक संगीत,लोक संस्कृति का संरक्षण, वन संवर्धन तथा जन चेतना जागृत करना कि दिशा में

निरंतर सराहनीय कार्य में संलग्न छन्। विश्वविद्यालय में आयोजित तीन दिवसीय कार्यक्रम में एक पुरो दिन को सत्र ढोल नगाड़ा जानकारी पर समर्पित करी ग्यो। ए में आदरणीय डाक्टर डी०आर०पुरोहित जी द्वारा ढोल सागर पर भौतै गहन, सारगर्भित जानकारी प्रदान करी गै। डाक्टर पुरोहित विश्वविद्यालय में अंग्रेजी का विभागाध्यक्ष रईन् छन् परन्तु ढोल सागर और लोक संस्कृति का ले उद्भट विद्वान छन्। ये में कुमाऊं का बागेश्वर बटी ढोल वादक श्री मोहन दास अपनि मंडली का साथ आमंत्रित छिया। जो मैं सुखद और रोचक बात लागीं कि मोहनदास जी को ६ वर्षीय नाती हितेश ले मंडली का साथ में सुंदर के दमाऊ बजून लागि रौ। गढ़वाल बटी डॉ सोहन लाल, प्रसिद्ध ढोल वादक ले प्रतिनिधित्व करौ। गढ़वाल विश्वविद्यालय द्वारा सोहन लाल जी कै ढोल सागर में डाक्टर कि मानद उपाधि दी गई छ।

श्री ब्रह्मानंद थपलियाल जी ले १९१३ में ढोल सागर पर शोधकार्य शुरू करौ और वर्ष १९३२ में अपुन् संपादन में एको प्रथम खंड बाजार में उतारौ। ढोल सागर कि तर्ज पर श्री प्रेम लाल भट्ट जी ले संक्षिप्त दमाऊ सागर लिखौ।

ढोल सागर वास्तव में उत्तराखंड को एक मौखिक ग्रंथ छ जो पीढ़ी दर पीढ़ी ढोल वादन कि कला व परंपरा का रूप मां समाज में प्रचलित रईन छ। एकें शिव उपासक गुरु गोरखनाथ सम्प्रदाय कि देन मानी जांछ। ये में विज्ञान भैरव शैली में शिव पार्वती संवाद दिईन छ। ये कि मूल भाषा ब्रज छ परंतु समय और स्थान परिवर्तन का साथ गढ़वाली और कुमाऊनी कि शब्दावली ले काफी जुड़ि गै। ढोल सागर का बाबत अनेक विद्वान समय समय पर लेखते रईं और जानकारी देते रईं। मोहनलाल बबुलकर द्वारा प्रकाशित पुस्तक "गढ़वाल की लोक धर्मी कला", डॉ शिवानंद नौटियाल कृत "गढ़वाल के लोक नृत्य", श्री केशव अनुरागी कृत "ढोल सागर" में सुंदर जानकारी दी गई छ। ये का अलावा वर्तमान में ले विद्वान शोधकर्ता ढोल सागर का संबंध में जानकारी देते रूनीं। श्री अबोध बंधु बहुगुणा, डॉ डी आर पुरोहित,श्री मनोज ईष्टवाल, डॉ हरीशचंद्र

लखेड़ा, डॉ बिहारी लाल जलंधरी ले ये बाबत लेख आदि दिईन छन्।

सब है पैली ढोल सागर कैले लेखौ यो क्वे जानकारी नीं छ। ये को कारण छ कि यो जानकारी पारम्परिक रूप ले मौखिक थि, फिर भोजपत्रन् में संस्कृत, गढ़वाली, कुमाऊनी शब्दावली में प्राप्त भई।

" आपु पुत्रं भवे ढोलं,ब्रह्म पुत्रम च डोरिका। पौन पुत्रं भवे नादम्,नीम पुत्रं गजाबलम्। विष्णु पुत्रं भवे पूड़म्,नाग पुत्रं शुंडलिका।"

ढोल सागर का अनुसार ढोल कि उत्पत्ति यो बताई गै :-

"अरे आवजी ढोल किले ढोल्या, कि ले बटोल्या, कि ले ढोल गढ़ाओ,कि ले ढोल मुड़ाया, कि ले ढोल कंदोटी चढ़ाया? उत्तरः अरे गुनिजन् ढोल ईश्वर ने ढोल्या, पार्वती ने बटोल्या, नारायण जी गड़ाया, चारे जुग ढोल मुड़ाया, ब्रह्माजी ढोल उपरि कंदोटी चढ़ाया।"

ढोल सागर में शिव पार्वती संवाद विज्ञान भैरव शैली में छ। चौबीसवां श्लोक तक शिव पार्वती संवाद छ। ढोल सागर नाथ पंथी साहित्य मानी जांछ जैकि रचना संभवतः १२वीं १३वीं शताब्दी कि छ। ढोल कैं शिव जंत्री ले कई जांछ। प्रीतम भरतवाण, ओंकार दास, उत्तम दास आदि ढोल वाद्ययंत्र कि ताल, ध्वनि का विद्वान छन्। गढ़वाल में डॉ सोहन लाल और कुमाऊं में श्री मोहन दास जागर, ढोल वादन का विशेष ज्ञाता छन्।

विद्वान लोगन् का अनुसार ढोलाका ३९(उनतालीस) और दमाऊं का तीन ताल मानी जानान्। कुछ विद्वान ढोल का चौरासी ताल माननीं। यो बात प्रचलित छ कि देव पूजन का लिजी चावल कुटन् वक्त चौरासी बजाई जांछे। अलग-अलग तालन् पर चौरासी घांण(ओखली भर धान) कुटना कि प्रथा मानीं जांछे। कुछ लोग त यो माननीं कि कुमाऊं और गढ़वाल दुवै मिलै बेर तालन् कि संख्या ३०० है ले अधिक छ। केशव अनुरागी कि चैती प्रभाती में ढोल दमाऊं कि जुगलबंदी कि ३९ ताल ए प्रकार छन्:--

"झे नन तू झे न न ता,झे गा तु झे न नु ता, त ग ता झे गु त, झे गा झे न्ह न ता, ता क झे ना तु झे गा -ता-ता-झे न नु तु "।

ढोल बजूना में उंगलीन को अनुशासन छ कि को उंगली कि बजालि,जो ए क्रम में बताई गिछः-

",प्रथम ब्रंण बाजती,दूसरी मूल बाजती,तीसरी यवदि बाजती, चौथी ठं ठं ठं कारंती, पांचवीं झपटी झपटी बाजती। दूसरा (दाहिना) हाथ गजाबलम्(लकुड़ा) ले धूमधाम बाजती"।

(ढोल का एक पूड़ा गजाबल की मार खाता है तो दूसरा शाबाशी लेता है।)

ढोल वादन को विषय विशद् और व्यापक छ। ये में अनुसंधान ले चलते आ रईं और नित नईं नईं जानकारी ले मिलन् लागि रईं। ढोल वादन का प्रतिष्ठित विद्वान श्री ओंकार दास जब ये विषय कि बारीकी का बाबत अपन् प्रवचन में उल्लेख करनीं त इस लागन्छ कि क्वे विश्वविद्यालय को प्रोफेसर अपन् व्याख्यान दिन् लागि रौ।

पारंपरिक वाद्य यंत्रन् का प्रति हमोरो उपेक्षा भाव, ए का विज्ञान को न समझ पाना, नया आधुनिक वाद्य यंत्रन् का प्रति अधिक आकर्षण,अपुना परंपरागत वाद्ययंत्रन् कै प्रतिष्ठा न दिनुं या उनन् हेय दृष्टि ले देखनुं और उनोरो महत्व न समझनुं, इनारा कलाकारन् उचित सम्मान और पारिश्रमिक न दिनुं तथा प्रोत्साहित न करनुं, आधुनिकता कि चकाचौंध में भौंडा किस्म का मनोरंजन साधन अपनूंनुं, सरकारी स्तर पर इन शास्त्रीय परंपरागत विद्याओं का लिजी उचित व निरंतर शिक्षण, प्रशिक्षण, प्रोत्साहन, आर्थिक सहायता कि क्वे व्यवस्था नि हुनिं, समाज और शासन कि उपेक्षा का कारण खुद एका कलाकारन् में ये कार्य का प्रति हीन भावना जस् अनेक कारण छन् जै का कारण हमरि यो अमूल्य धरोहर विलुप्ति का कगार पर छ और दम तोड़न लागि रै।

हमरि यो धरोहर कतुक अमूल्य और उपयोगी छ, विरासत में मिली संस्कृति छ यो बात गहराई ले समझि बेर एको संरक्षण, प्रचार, प्रसार करनुं अति आवश्यक छ। यो कतुक महान वाद्य कला हुनेलि जब राजा, महाराजा पुरान् समय में युद्ध, सैन्य शक्ति,जय,पराजय कि सूचना को सही सम्प्रेषण नगाड़ा, दमाऊ कि ताल, ध्वनि का माध्यम ले करना थ्या। हर मांगलिक कार्य का समय अलग-अलग प्रसंग में इनरि अलग-अलग ताल, ध्वनि बाजनेर भै। मांगलिक कार्य शुरू हुनु, गणेश पूजा, महिला संगीत,मुख्य पूजा, बारात कि तैयारी, बारात प्रस्थान, अश्वारोहण, बाटा का उतार -चड़ाव का समय, बारात आगमन आदि में अलग-अलग ताल ध्वनि को विधान छ। ताल, वाद्य, ध्वनि और समय को अद्भुत सामंजस्य छ।

श्री गोल्ज्यू यात्रा क्यों जरूरी है ?

भारत की सनातन परंपरा में यात्राओं का विशेष महत्व रहा है। यात्रा केवल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने का माध्यम नहीं, बल्कि समाज को जोड़ने, अनुभवों का आदान–प्रदान करने, सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित करने और लोकचेतना जागृत करने का सशक्त माध्यम रही है। भारतीय इतिहास और परंपरा में अनेक महापुरुषों ने यात्राओं के माध्यम से समाज को नई दिशा दी। आदि शंकराचार्य से लेकर गुरु नानक देव तक अनेक संतों, ऋषियों और आचार्यों ने हिमालय की इस पवित्र भूमि में भ्रमण कर समाज को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना प्रदान की।

गोल्ज्यू यात्रा (योजना बैठक) हरिद्वार में मुख्य अतिथि आरएसएस प्रांत प्रचारक डॉक्टर शैलेंद्र जी

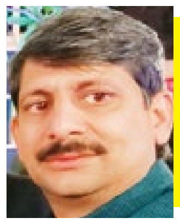
विजय भट्ट
(वरिष्ठ राज्य आंदोलनकारी)
संस्थापक अध्यक्ष
अपनी धरोहर न्यास

भारत की सनातन परंपरा में यात्राओं का विशेष महत्व रहा है। यात्रा केवल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने का माध्यम नहीं, बल्कि समाज को जोड़ने, अनुभवों का आदान–प्रदान करने, सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित करने और लोकचेतना जागृत करने का सशक्त माध्यम रही है। भारतीय इतिहास और परंपरा में अनेक महापुरुषों ने यात्राओं के माध्यम से समाज को नई दिशा दी। आदि शंकराचार्य से लेकर गुरु नानक देव तक अनेक संतों, ऋषियों और आचार्यों ने हिमालय की इस पवित्र भूमि में भ्रमण कर समाज को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना प्रदान की।

उत्तराखंड, जिसे देवभूमि के नाम से जाना जाता है, केवल प्राकृतिक सौंदर्य का प्रदेश नहीं है, बल्कि यह विविध धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं का संगम भी है। शैव और वैष्णव परंपराओं के प्रमुख तीर्थों के साथ–साथ सिख, बौद्ध, जैन तथा अन्य आध्यात्मिक परंपराओं के अनेक पवित्र स्थल यहाँ स्थापित हैं। हेमकुंड साहिब, नानकमत्ता साहिब, रीठा साहिब और अन्य गुरुद्वारे इस बात के प्रमाण हैं कि उत्तराखंड सदियों से धार्मिक यात्राओं और आध्यात्मिक साधना का केंद्र रहा है।

लोकमान्यताओं, किंवदंतियों और जनश्रुतियों में भी उत्तराखंड को देवताओं, ऋषियों और तपस्वियों की भूमि माना गया है। यही कारण है कि यहाँ की यात्राएँ केवल तीर्थ–दर्शन तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि उन्होंने समाज को जोड़ने, संस्कृति को संरक्षित करने और नई पीढ़ी तक लोकज्ञान पहुँचाने का कार्य भी किया है।

इसी महान परंपरा को आगे बढ़ाते हुए वर्ष 2022 में "श्री गोल्ज्यू यात्रा" का शुभारंभ हुआ। यह यात्रा केवल धार्मिक आयोजन नहीं थी, बल्कि उत्तराखंड की सांस्कृतिक आत्मा को समझने और उसे एक सूत्र में पिरोने का प्रयास थी। वर्ष 2022, 2024 और 2026 में आयोजित इस यात्रा ने मैदानी क्षेत्रों, मध्य हिमालय और उच्च हिमालय को जोड़ते हुए लगभग 3500 किलोमीटर की यात्रा पूर्ण की। विशेष बात यह रही कि यात्रा का लगभग 75 प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों से होकर गुजरा, जहाँ आज भी उत्तराखंड की मूल संस्कृति, परंपराएँ और लोकजीवन जीवंत रूप में विद्यमान हैं।

कहा जाता है कि संस्कृति की आत्मा गाँवों में बसती है। श्री गोल्ज्यू यात्रा ने इसी आत्मा से संवाद स्थापित करने का कार्य किया। यात्रा के दौरान गाँव–गाँव जाकर स्थानीय समाज, लोक कलाकारों, ढोल–दमाऊ वादकों, पश्वाओं, डांगरियों, पुजारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और संस्कृति प्रेमियों से संवाद स्थापित किया गया। यह केवल दर्शन की यात्रा नहीं थी, बल्कि लोकजीवन को समझने, उसके अनुभवों को सुनने और उन्हें समाज के सामने लाने का एक सशक्त प्रयास था।

उत्तराखंड की धार्मिक परंपराओं में पश्वा और डांगरी विशेष महत्व रखते हैं। लोकमान्यता के अनुसार वे देवी–देवताओं के प्रतिनिधि और लोकआस्था के संवाहक माने जाते हैं। यात्रा के दौरान उनके अनुभवों, परंपराओं और विचारों को समझने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट हुआ कि उत्तराखंड की अनेक पारंपरिक व्यवस्थाएँ आज भी समाज को जोड़ने और सांस्कृतिक संतुलन बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

श्री गोल्ज्यू यात्रा का एक महत्वपूर्ण पक्ष सांस्कृतिक संरक्षण को केवल स्मृति तक सीमित न रखकर उसे वर्तमान और भविष्य से जोड़ना भी रहा है। इसी उद्देश्य से "धरोहर संवाद" जैसी संवाद परंपरा का शुभारंभ हुआ। संगोष्ठियों, अधिवेशनों, बैठकों और सेमिनारों के माध्यम से संस्कृति, लोककला, धार्मिक परंपराओं और परंपरागत ज्ञान पर गंभीर चिंतन प्रारंभ हुआ। संत–महात्माओं, विश्वविद्यालयों के विद्वानों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और संस्कृति प्रेमियों ने इसमें सक्रिय सहभागिता निभाई।

उत्तराखंड की लोकसंस्कृति और ढोल परंपरा के संरक्षण में अनेक विद्वानों और कलाकारों का योगदान उल्लेखनीय रहा है। विशेष रूप से प्रोफेसर दाताराम पुरोहित जी ने लोक परंपराओं को सम्मानजनक पहचान दिलाने तथा उन्हें समाज और आजीविका से जोड़ने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध ढोल वादक सोहनलाल दास को मानद उपाधि प्रदान की गई और आज वे सम्मानपूर्वक "डॉ. सोहनलाल" के नाम से जाने जाते हैं। यह सम्मान केवल एक कलाकार

का नहीं, बल्कि उत्तराखंड की समृद्ध ढोल परंपरा और उससे जुड़े संपूर्ण कलाकार समुदाय का सम्मान है।

इसी क्रम में श्री गोल्ज्यू यात्रा के तीनों चरणों में निरंतर सक्रिय भूमिका निभाने वाले मोहन दास एवं उनकी टीम ने भी उत्तराखंड की लोकसंस्कृति, धार्मिक परंपराओं और ढोल–दमाऊ संस्कृति को जन–जन तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके समर्पण और कार्यों को देखते हुए प्रोफेसर दाताराम पुरोहित जी द्वारा उन्हें भी मानद उपाधि के लिए चिन्हित किया गया है। "अपनी धरोहर न्यास" ने इस प्रस्ताव का स्वागत करते हुए उन्हें सम्मान दिलाने की दिशा में प्रयास प्रारंभ कर दिए हैं। यह केवल एक व्यक्ति का सम्मान नहीं होगा, बल्कि उन सभी सांस्कृतिक साधकों का सम्मान होगा, जो वर्षों से निस्वार्थ भाव से अपनी परंपराओं को जीवित रखने में लगे हुए हैं।

यात्रा के दौरान अनेक ऐसे लोक कलाकारों, परंपरागत ज्ञान के संरक्षकों और संस्कृति साधकों की पहचान हुई, जिन्होंने अपने जीवन को उत्तराखंड की सांस्कृतिक धरोहरों के संरक्षण के लिए समर्पित कर दिया है। यात्रा ने ऐसे व्यक्तित्वों को समाज के सामने लाने और उनके कार्यों को सम्मान दिलाने का कार्य भी किया है।

तीन चरणों में सम्पन्न इस यात्रा का सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह रहा कि उत्तराखंड की पहचान केवल उसकी राजनीतिक सीमाओं से नहीं, बल्कि उसकी सांस्कृतिक चेतना, धार्मिक परंपराओं, लोककलाओं, नदियों, हिमालय और लोकजीवन से निर्मित होती है। यदि इन तत्वों को संगठित और सशक्त किया जाए, तो उत्तराखंड विश्व के समक्ष अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान को और अधिक प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर सकता है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि उत्तराखंड की परंपराओं, धार्मिक अनुष्ठानों, लोककलाओं, ढोल–दमाऊ, जागर, पश्वा परंपरा और लोकज्ञान पर गंभीर विमर्श हो। इन्हें केवल अतीत की धरोहर न मानकर वर्तमान और भविष्य की शक्ति के रूप में देखा जाए। श्री गोल्ज्यू यात्रा ने इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण पहल की है।

यह यात्रा केवल एक धार्मिक यात्रा नहीं रही, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण, सामाजिक समन्वय और लोकचेतना का अभियान बनकर उभरी है। इसने यह सिद्ध किया है कि जब समाज अपनी जड़ों से जुड़ता है, तब वह अपने भविष्य को भी अधिक सशक्त और स्थायी बना सकता है।

"अपनी धरोहर न्यास" द्वारा संचालित यह प्रयास आज उत्तराखंड की सांस्कृतिक पहचान को सुदृढ़ करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण आंदोलन का रूप ले चुका है। यात्रा के माध्यम से प्राप्त अनुभवों ने यह भी संकेत दिया है कि भविष्य में पश्वा–डांगरी परंपरा, लोकदेवताओं की व्यवस्था, ढोल–दमाऊ संस्कृति, धार्मिक अनुष्ठानों और लोकविश्वासों पर विशेष संगोष्ठियों एवं सेमिनारों का आयोजन किया जाना चाहिए, ताकि इन विषयों पर गंभीर अध्ययन और विमर्श हो सके।

श्री गोल्ज्यू यात्रा ने केवल अतीत को याद करने का कार्य नहीं किया, बल्कि भविष्य की दिशा भी निर्धारित की है। यह यात्रा आज उत्तराखंड की सांस्कृतिक अस्मिता, सामाजिक एकता और धार्मिक चेतना का सशक्त प्रतीक बन चुकी है। आने वाले वर्षों में यह प्रयास न केवल उत्तराखंड, बल्कि पूरे भारत के लिए सांस्कृतिक संरक्षण और सामाजिक संगठन का एक प्रेरक मॉडल सिद्ध हो सकता है।

यही श्री गोल्ज्यू यात्रा का वास्तविक संदेश है। अपनी जड़ों से जुड़ना, अपनी धरोहर को पहचानना और उसे सम्मानपूर्वक आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाना।

NAGAR NIGAM HALDWANI KATHGODAM
UTTARAKHAND

मेरा शहर, मेरी पहचान — स्वच्छ सर्वेक्षण 2025
स्वच्छता में हल्द्वानी को बनाएं नंबर-1

स्वच्छ भारत
एक कदम स्वच्छता की ओर

नगर निगम हल्द्वानी—काठगोदाम को सुंदर स्वच्छ बनाये जाने हेतु आम जनता से अनुरोध करती है कि:—

- नगर निगम हल्द्वानी—काठगोदाम को सम्पूर्ण स्वच्छता की निगरानी बैंणी सेना द्वारा की जा रही है, इस कार्य में बैंणी सेना को सहयोग करें।
- सिंगल यूज प्लास्टिक का उपयोग ना करें।
- अपने घर एवं प्रतिष्ठान में डस्टबिन आवश्यक रूप से रखें।
- अपने घर / प्रतिष्ठान का सूखा कूड़ा, गीला कूड़ा और परिसंकटमय कूड़ा अलग—अलग करके निगम के कूड़ा वाहन में डालें।
- कूड़ा वाहन का यूजर चार्ज केवल निगम द्वारा अधिकृत "बैंणी सेना" की महिला प्रतिनिधि को ही दें।
- खुले में सड़क पर नाली / नाले / गूल / नगर आदि स्थानों पर कूड़ा फेंकना/थूकना तथा कूड़ा जलाना कानूनी अपराध है।
- अपने घर एवं आस—पास में जमा पानी को साफ करायें जिससे डेंगू का लार्वा को समाप्त किया जा सके।
- नगर निगम हल्द्वानी—काठगोदाम द्वारा संचालित दो गौशाला राजपुरा एवं गंगापुर कब्डाल, हल्दूचौड़ में संचालित है। जिन्हें आप अपना आर्थिक सहयोग प्रदान कर सकते है। आर्थिक सहयोग ऑनलाइन के माध्यम से करने हेतु बैंक बन्धन बैंक, खाताधारक का नाम नगर निगम हल्द्वानी, खाता संख्या 20100031764421, IFSC-BDBL0001535, सम्पर्क सूत्र 95482-40589 / 79065-81261 है।
- नगर निगम हल्द्वानी—काठगोदाम द्वारा आरोपित सभी टैक्स का समय पर भुगतान करने का कष्ट करें, जिससे कि नगर निगम हल्द्वानी—काठगोदाम आर्थिक रूप से मजबूत हो सकें और जनहित के कार्यों का संपादन किया जा सके।
- अपने आस—पास सार्वजनिक सड़कों पर अतिक्रमण न करें और न ही किसी को करने दें।

कूड़ा वाहन न आने पर सफाई न होने तथा मार्ग प्रकाश सम्बन्धी शिकायत नगर निगम के टोल फ्री नं. 8882610000 पर करें।

नगर आयुक्त
नगर निगम, हल्द्वानी

गजराज सिंह बिष्ट
महापौर
नगर निगम हल्द्वानी—काठगोदाम

आखिर क्या है उत्तराखंड का ढोलसागर?

दिनेश सेमवाल
प्रांत कार्यवाह
(आरएसएस)
उत्तराखंड

ढोल मानव सभ्यता के सबसे प्राचीन वाद्ययंत्रों में से एक है। आदिकाल से ही मानव ने ध्वनि, ताल और लय के माध्यम से अपनी भावनाओं, विश्वासों और सामूहिक जीवन को अभिव्यक्त किया है। इसी क्रम में ढोल का जन्म हुआ, जिसने समय के साथ विश्व की लगभग प्रत्येक सभ्यता में अपना स्थान बनाया। यह केवल संगीत का साधन नहीं रहा, बल्कि समाज को संगठित करने, सूचना देने, धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न कराने तथा सामुदायिक चेतना को जागृत करने का माध्यम भी बना।

विश्व के विभिन्न देशों में ढोल की अनेक परंपराएँ विकसित हुईं। अफ्रीका में यह सामुदायिक संवाद और जनजीवन का प्रतीक बना, जापान में अनुशासन और आध्यात्मिक शक्ति का, चीन में उत्सव और समृद्धि का तथा यूरोप में सैन्य और राजकीय व्यवस्थाओं का महत्वपूर्ण अंग रहा। यद्यपि इन सभी परंपराओं का स्वरूप भिन्न रहा, परंतु एक तथ्य समान रहा। ढोल ने समाज को जोड़ने और सामूहिक पहचान को सशक्त बनाने का कार्य किया।

भारत में ढोल और अन्य तालवाद्यों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। सनातन संस्कृति में डमरू, मृदंग, नगाड़ा, ढोल और शंख केवल वाद्ययंत्र नहीं, बल्कि धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन के अभिन्न अंग रहे हैं। मंदिरों की आरती, यज्ञ, पर्व, मेले, यात्राएँ और लोकनृत्य इनकी उपस्थिति से ही पूर्ण माने जाते हैं। देश के विभिन्न भागों में स्थानीय परंपराओं के अनुरूप अनेक प्रकार के ढोल विकसित हुए, किंतु उत्तराखंड का ढोल—दमाऊ अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भूमिका के कारण विशेष महत्व रखता है।

विश्व और भारत में ढोल परंपरा

अफ्रीका का जेम्बे, जापान का ताइको, चीन का तांगगु, कोरिया का जंगु तथा यूरोप के पारंपरिक सैन्य ढोल इस बात के प्रमाण हैं कि ढोल विश्व की सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण अंग रहा है। कहीं यह युद्ध का संकेतक था, कहीं धार्मिक उत्सवों का केंद्र, तो कहीं लोकनृत्य और सामाजिक एकता का माध्यम।

भारत में भी ढोल का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। हिमाचल प्रदेश के देवस्थानों में ढोल–नगाड़ों की परंपरा है। केरल का चेंडा मंदिर उत्सवों की पहचान है। पश्चिम बंगाल का ढाक दुर्गा पूजा का अभिन्न अंग है। असम का खोल वैष्णव परंपरा से जुड़ा हुआ है। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और मध्य भारत के अनेक क्षेत्रों में ढोल लोकजीवन की धड़कन के रूप में उपस्थित है। काशी, प्रयागराज, उज्जैन, पुरी, रामेश्वरम्, द्वारका, बद्रीनाथ और केदारनाथ जैसे प्रमुख तीर्थस्थलों में भी विभिन्न प्रकार के तालवाद्यों का प्रयोग धार्मिक परंपराओं का हिस्सा रहा है। इन सभी परंपराओं में ढोल श्रद्धा, सामूहिकता और सांस्कृतिक निरंतरता का प्रतीक है।

उत्तराखंड : देवभूमि की जीवित धड़कन

उत्तराखंड का ढोल–दमाऊ केवल वाद्ययंत्र नहीं, बल्कि लोकजीवन की आत्मा है। जन्म, नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह, देवी–देवता पूजन, ग्रामोत्सव, लोकपर्व और धार्मिक यात्राओं तक इसकी उपस्थिति दिखाई देती है। यह लोकजीवन के साथ इतना गहराई से जुड़ा हुआ है कि इसके बिना अनेक धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान अधूरे माने जाते हैं।

विवाह संस्कारों में ढोल–दमाऊ की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। बारात के प्रस्थान, बारात के स्वागत, गणेश पूजन, मंगल कार्यों तथा विभिन्न वैवाहिक अनुष्ठानों के लिए अलग–अलग तालों का प्रयोग किया जाता है। अनुभवी ढोल वादक केवल ताल सुनकर यह बता सकते हैं कि कौन–सा संस्कार या अनुष्ठान चल रहा है।

गणेश पूजन, भगवती पूजन, कुलदेवता पूजन तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के लिए भी विशिष्ट तालें निर्धारित हैं। यही कारण है कि उत्तराखंड में ढोल केवल संगीत नहीं, बल्कि एक सांकेतिक सांस्कृतिक भाषा के रूप में भी कार्य करता है।

जागर और देव-अवतरण

उत्तराखंड की जागर परंपरा विश्व की अद्वितीय सांस्कृतिक परंपराओं में से एक है। लोकमान्यता के अनुसार विशेष तालों, मंत्रों और वादन शैली के माध्यम से देवी–देवताओं, लोकदेवताओं तथा पूर्वजों का आवाहन किया जाता है। ढोल–दमाऊ की थाप यहाँ केवल ध्वनि नहीं, बल्कि देवताओं तक पहुँचने का माध्यम मानी जाती है। पश्वा और डांगरी परंपरा आज भी अनेक क्षेत्रों में जीवित है और लोकविश्वासों का महत्वपूर्ण आधार बनी हुई है।

उत्तराखंड का सांस्कृतिक ज्ञानकोष

ढोलसागर उत्तराखंड की सांस्कृतिक स्मृति का अमूल्य भंडार है। यह केवल तालों का संग्रह नहीं, बल्कि लोकज्ञान, लोकइतिहास, देवपरंपरा, सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक अनुशासन का विशाल ज्ञानकोष है। विवाह, यज्ञोपवीत, गणेश पूजन, भगवती आराधना, देवयात्रा, जागर तथा विभिन्न सामाजिक अवसरों के लिए अलग–अलग तालों और वादन शैलियों का वर्णन ढोलसागर में मिलता है। यह ज्ञान सदियों से मौखिक परंपरा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचता रहा है।

सम्मेलन, शोध और धरोहर संवाद

ढोल–दमाऊ और ढोलसागर परंपरा के संरक्षण और संवर्धन को लेकर पिछले वर्षों में अनेक प्रयास हुए हैं। इसी दिशा में "धरोहर संवाद" एक महत्वपूर्ण पहल के रूप में सामने आया।

इस संवाद श्रृंखला का शुभारंभ श्रीनगर गढ़वाल स्थित हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय से हुआ। यहाँ आयोजित संगोष्ठी में उत्तराखंड के विभिन्न जनपदों के साथ–साथ देश के अन्य भागों से भी विद्वानों, शोधकर्ताओं, लोक कलाकारों और संस्कृति प्रेमियों ने सहभागिता की। संवाद का उद्देश्य यह समझना था कि बदलते समय में ढोल–दमाऊ और ढोलसागर जैसी परंपराओं का संरक्षण किस प्रकार किया जाए।

इसके पश्चात धरोहर संवाद देहरादून, नैनीताल और गोपेश्वर में भी आयोजित हुआ। इन संवादों में ढोल–दमाऊ, जागर, लोकदेवता परंपरा, कलाकारों की चुनौतियों, संरक्षण, दस्तावेजीकरण और रोजगार के अवसरों पर गंभीर चिंतन हुआ। यह प्रक्रिया आज भी निरंतर जारी है।

परंपरा के वर्तमान संवाहक

लोक कलाकार सोहनलाल दास को मानद उपाधि प्राप्त होने के पश्चात आज वे सम्मानपूर्वक "डॉ. सोहन लाल" के नाम से जाने जाते हैं। यह सम्मान केवल एक व्यक्ति का सम्मान नहीं, बल्कि उत्तराखंड की समृद्ध ढोल–दमाऊ परंपरा की प्रतिष्ठा का प्रतीक है।

डॉ. सोहन लाल ने इस सम्मान को केवल व्यक्तिगत उपलब्धि तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने अपनी कला और अनुभव के माध्यम से ढोल–दमाऊ परंपरा को नई पहचान दी। आज उनके मार्गदर्शन में 100 से अधिक कलाकारों की टीमें सक्रिय हैं और उनके प्रयासों से अनेक परिवारों को सम्मानजनक रोजगार प्राप्त हुआ है।

श्री मोहन राम दास 'मोहनदा' ने कुमाऊँ की परंपरागत ढोल संस्कृति को संरक्षित रखते हुए नई पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य किया है। उनकी सांस्कृतिक साधना और योगदान को देखते हुए मानद उपाधि के लिए भी प्रयास किए जा रहे हैं।

श्री सुंदर दास 'सोनू' ने युवा पीढ़ी को लोकवाद्य परंपरा से जोड़ने और सांस्कृतिक आयोजनों के माध्यम से रोजगार के अवसर विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इन तीनों कलाकारों के अतिरिक्त उत्तराखंड के गाँव–गाँव में असंख्य लोक कलाकार, महिलाएँ, युवा, वाद्य निर्माता, पश्वा, डांगरी और सांस्कृतिक साधक इस अमूल्य विरासत को जीवित रखने में योगदान दे रहे हैं।

संरक्षण, सम्मान और आजीविका

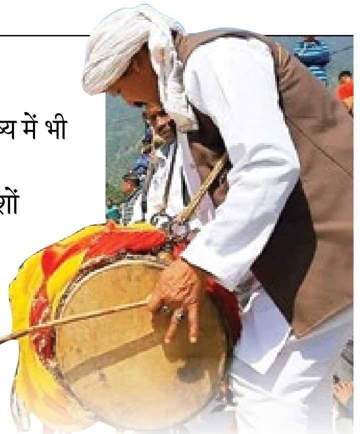

प्रोफेसर दाताराम पुरोहित निरंतर इस विचार को सामने रखते रहे हैं कि लोक परंपराओं का वास्तविक संरक्षण तभी संभव है, जब उन्हें सम्मान और रोजगार दोनों से जोड़ा जाए। केवल सांस्कृतिक संरक्षण पर्याप्त नहीं है; कलाकारों का सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण भी उतना ही आवश्यक है।

डॉ. सोहन लाल, श्री मोहन राम दास "मोहनदा" और श्री सुंदर दास "सोनू" जैसे कलाकारों ने केवल परंपरा को जीवित नहीं रखा, बल्कि अनेक परिवारों को आजीविका से भी जोड़ा है। यह सिद्ध करता है कि लोककला केवल सांस्कृतिक धरोहर ही नहीं, बल्कि रोजगार और आत्मनिर्भरता का माध्यम भी बन सकती है।

उत्तराखंड की अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संस्थाओं ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किए हैं। विभिन्न संगठनों ने ढोल–दमाऊ, जागर, लोकनृत्य और पारंपरिक ज्ञान को नई पीढ़ी तक पहुँचाने तथा कलाकारों को मंच प्रदान करने के लिए सराहनीय प्रयास किए हैं।

प्रोफेसर दाताराम पुरोहित की प्रेरणा और मार्गदर्शन से "अपनी धरोहर न्यास" भी इसी दिशा में कार्यरत है। न्यास का उद्देश्य केवल ढोलसागर और ढोल–दमाऊ परंपरा का संरक्षण नहीं, बल्कि इससे जुड़े कलाकारों, वाद्य निर्माताओं और सांस्कृतिक साधकों को सम्मान, पहचान और बेहतर रोजगार से जोड़ना भी है। यह प्रयास भविष्य में भी निरंतर जारी रहेगा।

विश्व के अनेक देशों और भारत के विभिन्न राज्यों में ढोल सांस्कृतिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग है, किंतु उत्तराखंड का ढोल–दमाऊ अपनी ढोलसागर परंपरा, जागर संस्कृति, देव–अवतरण की मान्यताओं और लोकजीवन से गहरे संबंध के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। यह केवल एक वाद्ययंत्र नहीं, बल्कि हिमालयी सभ्यता, संस्कृति, लोकज्ञान और आध्यात्मिक चेतना की जीवित धड़कन है। यही ढोलसागर है। यही पहाड़ की आत्मा है।

उत्तराखंड का ढोल–दमाऊ

इतिहास, लोकमान्यता और आधुनिक शोध क्या कहते हैं

दीपक पुरोहित
वरिष्ठ पत्रकार

उत्तराखंड की सांस्कृतिक पहचान में ढोल–दमाऊ का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह केवल एक लोकवाद्य नहीं, बल्कि धार्मिक अनुष्ठानों, सामाजिक संरचना, लोकविश्वास, देवपरंपरा और सामुदायिक जीवन का अभिन्न अंग है। विवाह, जागर, देवयात्रा, पांडव नृत्य, लोकपर्व, ग्रामोत्सव और विभिन्न धार्मिक संस्कारों में ढोल–दमाऊ की उपस्थिति आज भी अनिवार्य मानी जाती है।

उत्तराखंड की परंपरा में ढोल केवल संगीत उत्पन्न करने वाला वाद्य नहीं है, बल्कि इसे एक सांकेतिक और आध्यात्मिक भाषा के रूप में भी देखा जाता है। विभिन्न अवसरों के लिए अलग–अलग तालों का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि यह परंपरा केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं रही, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था का भी हिस्सा रही है।

हालाँकि उत्तराखंड में ढोल की उत्पत्ति को लेकर कोई एक निश्चित ऐतिहासिक मत उपलब्ध नहीं है। इस विषय को समझने के लिए इतिहास, लोकमान्यता और आधुनिक शोध तीनों को अलग–अलग दृष्टि से देखना आवश्यक है।

इतिहास क्या कहता है

विश्व इतिहास में ढोल को मानव सभ्यता के सबसे पुराने तालवाद्यों में गिना जाता है। प्रारंभिक मानव समाजों में पशुचर्म और लकड़ी से बने तालवाद्यों का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों, युद्ध, सामूहिक संकेत और उत्सवों में किया जाता था। मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और भारतीय उपमहाद्वीप में ढोल जैसे वाद्यों की परंपरा प्राचीन काल से मौजूद रही है।

भारतीय परंपरा में डमरू, मृदंग, भेरी, दुंदुभि और नगाड़ों का उल्लेख वैदिक एवं पुराणकालीन ग्रंथों में मिलता है। ऋग्वैदिक और उत्तरवैदिक काल में युद्ध, यज्ञ और राजकीय अवसरों पर तालवाद्यों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों में भी दुंदुभि और रणवाद्यों का वर्णन प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय सभ्यता में ध्वनि और ताल केवल संगीत नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का भी हिस्सा थे। इतिहासकारों का मत है कि उत्तराखंड का ढोल–दमाऊ किसी एक व्यक्ति या एक कालखंड की देन नहीं है, बल्कि यह विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों और स्थानीय विकास प्रक्रियाओं का परिणाम है। कत्युरी, चंद और पंवार राजवंशों के काल में मंदिर संस्कृति, सैन्य व्यवस्थाओं और लोकदेवता परंपराओं के साथ ढोल–दमाऊ का प्रयोग अधिक व्यवस्थित रूप में विकसित हुआ।

उत्तराखंड के प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. शिव प्रसाद डबराल ने अपनी ऐतिहासिक कृतियों में संकेत दिया है कि हिमालयी समाज में लोकवाद्यों की भूमिका केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं थी, बल्कि वे सामाजिक संगठन, धार्मिक संरचना और सत्ता व्यवस्था का भी हिस्सा थे। पर्वतीय क्षेत्रों में संचार के साधन सीमित थे, इसलिए ध्वनि–आधारित संकेत अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह माना जाता है कि उत्तराखंड में ढोल–दमाऊ का व्यापक उपयोग प्रारंभिक मध्यकाल, विशेष रूप से 10वीं से 16वीं शताब्दी के बीच अधिक संगठित

रूप में दिखाई देता है। इस काल में छोटे–छोटे गढ़ों और रियासतों की व्यवस्था थी। "गढ़वाल" शब्द स्वयं "गढ़ों" अर्थात किलों और सैन्य ठिकानों से जुड़ा हुआ है। ऐसे क्षेत्रों में संदेश पहुँचाने, लोगों को एकत्रित करने और संकट की सूचना देने के लिए ध्वनि का उपयोग किया जाता था।

ढोल का सैन्य उपयोग इसी संदर्भ में समझा जाता है। पर्वतीय भूगोल में ध्वनि दूर तक पहुँचती है। युद्ध या संकट की स्थिति में ढोल और नगाड़ों का प्रयोग सैनिकों को एकत्रित करने, संदेश देने, दुश्मन की सूचना फैलाने तथा सामूहिक चेतावनी देने के लिए किया जाता था। कई लोकगाथाओं और क्षेत्रीय इतिहासों में युद्ध–पूर्व ढोल बजाने की परंपरा का उल्लेख मिलता है। गढ़वाल और कुमाऊँ की पारंपरिक सैन्य संस्कृति में रणभेरी, नगाड़ा और ढोल जैसे वाद्यों का विशेष महत्व था। सैनिक दलों की गतिविधियों, जुलूसों और युद्ध–आह्वान में इनका उपयोग किया जाता था। मध्यकालीन भारत की अन्य राजसत्ताओं की तरह हिमालयी राज्यों में भी ध्वनि–संकेत व्यवस्था प्रशासनिक और सैन्य कार्यों का महत्वपूर्ण हिस्सा थी।

कुछ शोधकर्ता यह भी मानते हैं कि ढोल–दमाऊ का संबंध केवल सैन्य व्यवस्था से नहीं, बल्कि सामुदायिक सुरक्षा प्रणाली से भी था। गाँवों में आग, आक्रमण, प्राकृतिक संकट या सामूहिक सभा के समय ढोल की ध्वनि लोगों को एकत्रित करने का माध्यम बनती थी। पर्वतीय क्षेत्रों में जहाँ लिखित संदेश या त्वरित संचार संभव नहीं था, वहाँ ध्वनि ही सूचना का सबसे प्रभावी माध्यम थी।

लोकगाथाओं में भी सैन्य और वीर परंपराओं के साथ ढोल का संबंध दिखाई देता है। गढ़वाल के लोकनायक कफ्फू चौहान तथा अन्य वीरगाथाओं में युद्ध और शक्ति प्रदर्शन के प्रसंगों में ढोल–नगाड़ों का उल्लेख मिलता है।

इतिहास यह भी बताता है कि ढोल–दमाऊ परंपरा विशेष वादक समुदायों द्वारा संरक्षित रही। औजी, बाजगी, दास और ढोली समुदाय पीढ़ियों से इस ज्ञान को मौखिक परंपरा के माध्यम से आगे बढ़ाते रहे। विवाह, देवयात्रा, जागर और सामाजिक अवसरों पर इन समुदायों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है।

हालाँकि यह स्पष्ट रूप से कहना कठिन है कि उत्तराखंड में ढोल "पहली बार" कब पहुँचा, लेकिन उपलब्ध ऐतिहासिक संकेत यह बताते हैं कि इसका मूल संबंध प्राचीन भारतीय और मध्य एशियाई तालवाद्य परंपराओं से रहा तथा मध्यकालीन हिमालयी राजसत्ताओं में इसका संगठित उपयोग विकसित हुआ। उत्तराखंड ने इसे केवल वाद्य नहीं रहने दिया, बल्कि धार्मिक, सामाजिक, सैन्य और सांस्कृतिक जीवन की एक जटिल प्रणाली में परिवर्तित कर दिया।

लोकमान्यताएँ क्या कहती हैं

उत्तराखंड की लोकपरंपराओं में ढोल–दमाऊ को केवल एक वाद्ययंत्र नहीं, बल्कि दिव्य शक्ति और आध्यात्मिक चेतना से जुड़ा माध्यम माना जाता है। लोकविश्वास के अनुसार ध्वनि स्वयं सृष्टि का मूल तत्व है और संगीत देवताओं तक पहुँचने का मार्ग माना गया है। इसी कारण उत्तराखंड में ढोल–दमाऊ को सामान्य लोकवाद्य की अपेक्षा अधिक पवित्र और अनुष्ठानिक महत्व प्राप्त हुआ। लोकमान्यता के अनुसार भगवान शिव संगीत, नृत्य और ध्वनि के आदि स्रोत माने जाते हैं। शिव के डमरू को सृष्टि की मूल ध्वनि का प्रतीक माना गया है। उत्तराखंड की कई लोककथाओं और धार्मिक परंपराओं में यह विश्वास प्रचलित है कि ढोल–दमाऊ की परंपरा भी शिव परंपरा से ही विकसित हुई। विशेष रूप से केदारखंड और शिव उपासना से जुड़े क्षेत्रों में ढोल–दमाऊ को शिव की अनुकंपा और देवसंचार का माध्यम माना जाता है।

कई क्षेत्रों में यह मान्यता प्रचलित है कि "ढोलसागर" का ज्ञान स्वयं भगवान शिव द्वारा प्रदान किया गया। कुछ लोककथाओं में वर्णन मिलता है कि शिव और पार्वती के संवादों से ढोलसागर की उत्पत्ति हुई। लोकगायक और पारंपरिक वादक यह भी मानते हैं कि ढोल की विभिन्न तालें केवल संगीत की संरचनाएँ नहीं, बल्कि विशेष देवशक्तियों और अनुष्ठानों से जुड़ी हुई ध्वनि–पद्धतियाँ हैं। हालाँकि इन कथाओं का प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, फिर भी लोकविश्वासों और सांस्कृतिक स्मृति में इनका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। उत्तराखंड की जागर परंपरा में ढोल–दमाऊ की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। जागर केवल एक संगीत परंपरा नहीं, बल्कि देव–आवाहन और लोकआस्था से जुड़ी अनुष्ठानिक प्रक्रिया है। लोकविश्वास के अनुसार विशेष तालों, मंत्रों, स्वर–पद्धतियों और वादन शैली के माध्यम से देवी–देवताओं, लोकदेवताओं, कुलदेवताओं तथा पूर्वज आत्माओं का आवाहन किया जाता है। इस प्रक्रिया में ढोल–दमाऊ की थाप को देवताओं तक संदेश पहुँचाने वाली ध्वनि माना जाता है।

जागर के दौरान "जगरिया" लोकगाथाओं, देवकथाओं और मंत्रों का गायन करता है, जबकि ढोल–दमाऊ वादक विशेष तालों के माध्यम से अनुष्ठानिक वातावरण निर्मित करते हैं। लोकविश्वास यह कहता है कि जब ताल, मंत्र और सामूहिक आस्था एक विशेष अवस्था में पहुँचते हैं, तब देव–अवतरण की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी से पश्वा और डांगरी परंपरा जुड़ी हुई है। पश्वा उस व्यक्ति को कहा जाता है, जिसके भीतर लोकविश्वास के अनुसार देवता का आवेश या देव–अवतरण होता है। ग्रामीण समाज में आज भी यह माना जाता है कि प्रत्येक ताल का अपना धार्मिक और सांस्कृतिक अर्थ होता है। विवाह, नामकरण, यज्ञोपवीत, देवी–पूजन, देवयात्रा, मृत्यु संस्कार और जागर जैसे अवसरों के लिए अलग–अलग तालें निर्धारित हैं। अनुभवी ढोल वादक केवल ताल सुनकर यह पहचान सकते हैं कि कौन–सा संस्कार या अनुष्ठान चल रहा है। यह परंपरा दर्शाती है कि उत्तराखंड में ढोल केवल संगीत नहीं, बल्कि सांकेतिक सांस्कृतिक भाषा के रूप में भी विकसित हुआ। ढोल–दमाऊ का संबंध केवल धार्मिक अनुष्ठानों से ही नहीं, बल्कि सामुदायिक मनोविज्ञान और सामाजिक संगठन से भी जोड़ा जाता है। लोकमान्यता के अनुसार ढोल की ध्वनि वातावरण को शुद्ध करती है, नकारात्मक शक्तियों को दूर करती है और सामूहिक ऊर्जा उत्पन्न करती है। कई ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी धार्मिक अनुष्ठानों से पहले ढोल–दमाऊ वादन को शुभ माना जाता है।

"ढोलसागर" को उत्तराखंड की मौखिक सांस्कृतिक परंपरा का विशाल ज्ञानकोष माना जाता है। यह केवल तालों का संग्रह नहीं, बल्कि धार्मिक अवसरों, देवपरंपराओं, सामाजिक नियमों, अनुष्ठानों और वादन की सांकेतिक प्रणालियों का पारंपरिक ज्ञान है। पारंपरिक वादक समुदायों में यह ज्ञान गुरु–शिष्य परंपरा के माध्यम से पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होता रहा है। ढोलसागर में विभिन्न देवी–देवताओं, लोकदेवताओं और सामाजिक अवसरों के लिए विशिष्ट तालों का उल्लेख बताया जाता है।

लोकविश्वास यह भी कहता है कि ढोल केवल ध्वनि उत्पन्न नहीं करता, बल्कि चेतना और मानसिक अवस्था को प्रभावित करता है। जागर और देव–अवतरण की परंपराएँ इसी विश्वास पर आधारित हैं। लगातार दोहराई जाने वाली ताल, सामूहिक गायन, मंत्रोच्चार और अनुष्ठानिक वातावरण व्यक्ति और समुदाय दोनों पर गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि उत्तराखंड में ढोल–दमाऊ को केवल लोकसंगीत का उपकरण नहीं, बल्कि लोकआस्था, आध्यात्मिक अनुभव और सामुदायिक चेतना का माध्यम माना जाता है। उत्तराखंड की सांस्कृतिक परंपरा में ढोल–दमाऊ इसलिए विशिष्ट स्थान रखता है, क्योंकि यहाँ यह केवल कला का विषय नहीं, बल्कि जीवन, धर्म, समाज और लोकविश्वास का अभिन्न अंग बन चुका है। यही कारण है कि पर्वतीय समाज में ढोल की ध्वनि आज भी केवल संगीत नहीं, बल्कि परंपरा, पहचान और आस्था की जीवित आवाज मानी जाती है।

आधुनिक शोधकर्ता और विशेषज्ञ क्या कहते हैं

उत्तराखंड की लोकपरंपराओं में ढोल–दमाऊ को केवल एक वाद्ययंत्र नहीं, बल्कि दिव्य शक्ति और आध्यात्मिक चेतना से जुड़ा माध्यम माना जाता है। लोकविश्वास के अनुसार ध्वनि स्वयं सृष्टि का मूल तत्व है और संगीत देवताओं तक पहुँचने का मार्ग माना गया है। इसी कारण उत्तराखंड में ढोल–दमाऊ को सामान्य लोकवाद्य की अपेक्षा अधिक पवित्र और अनुष्ठानिक महत्व प्राप्त हुआ।

लोकमान्यता के अनुसार भगवान शिव संगीत, नृत्य और ध्वनि के आदि स्रोत माने जाते हैं। शिव के डमरू को सृष्टि की मूल ध्वनि का प्रतीक माना गया है। उत्तराखंड की कई लोककथाओं और धार्मिक परंपराओं में यह विश्वास प्रचलित है कि ढोल–दमाऊ की परंपरा भी शिव परंपरा से ही विकसित हुई। विशेष रूप से केदारखंड और शिव उपासना से जुड़े क्षेत्रों में ढोल–दमाऊ को शिव की अनुकंपा और देवसंचार का माध्यम माना जाता है।

कई क्षेत्रों में यह मान्यता प्रचलित है कि "ढोलसागर" का ज्ञान स्वयं भगवान शिव द्वारा प्रदान किया गया। कुछ लोककथाओं में वर्णन मिलता है कि शिव और पार्वती के संवादों से ढोलसागर की उत्पत्ति हुई। लोकगायक और पारंपरिक वादक यह भी मानते हैं कि ढोल की विभिन्न तालें केवल संगीत की संरचनाएँ नहीं, बल्कि विशेष देवशक्तियों और अनुष्ठानों से जुड़ी हुई ध्वनि–पद्धतियाँ हैं। हालाँकि इन कथाओं का प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, फिर भी लोकविश्वासों और सांस्कृतिक स्मृति में इनका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

उत्तराखंड की जागर परंपरा में ढोल–दमाऊ की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। जागर केवल एक संगीत परंपरा नहीं, बल्कि देव–आवाहन और लोकआस्था से जुड़ी अनुष्ठानिक प्रक्रिया है। लोकविश्वास के अनुसार विशेष तालों, मंत्रों, स्वर–पद्धतियों और वादन शैली के माध्यम से देवी–देवताओं, लोकदेवताओं, कुलदेवताओं तथा पूर्वज आत्माओं का आवाहन किया जाता है। इस प्रक्रिया में ढोल–दमाऊ की थाप को देवताओं तक संदेश पहुँचाने वाली ध्वनि माना जाता है।

जागर के दौरान "जगरिया" लोकगाथाओं, देवकथाओं और मंत्रों का गायन करता है, जबकि ढोल–दमाऊवादक विशेष तालों के माध्यम से अनुष्ठानिक वातावरण निर्मित करते हैं। लोकविश्वास यह कहता है कि जब ताल, मंत्र और सामूहिक आस्था एक विशेष अवस्था में पहुँचते हैं, तब देव–अवतरण की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी से पश्वा और डांगरी परंपरा जुड़ी हुई है। पश्वा उस व्यक्ति को कहा जाता है, जिसके भीतर लोकविश्वास के अनुसार देवता का आवेश या देव–अवतरण होता है।

ग्रामीण समाज में आज भी यह माना जाता है कि प्रत्येक ताल का अपना धार्मिक और सांस्कृतिक अर्थ होता है। विवाह, नामकरण, यज्ञोपवीत, देवी–पूजन, देवयात्रा, मृत्यु संस्कार और जागर जैसे अवसरों के लिए अलग–अलग तालें निर्धारित हैं। अनुभवी ढोल वादक केवल ताल सुनकर यह पहचान सकते हैं कि कौन–सा संस्कार या अनुष्ठान चल रहा है। यह परंपरा दर्शाती है कि उत्तराखंड में ढोल केवल संगीत नहीं, बल्कि सांकेतिक सांस्कृतिक भाषा के रूप में भी विकसित हुआ।

ढोल–दमाऊ का संबंध केवल धार्मिक अनुष्ठानों से ही नहीं, बल्कि सामुदायिक मनोविज्ञान और सामाजिक संगठन से भी जोड़ा जाता है। लोकमान्यता के अनुसार ढोल की ध्वनि वातावरण को शुद्ध करती है, नकारात्मक शक्तियों को दूर करती है और सामूहिक ऊर्जा उत्पन्न करती है। कई ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी धार्मिक अनुष्ठानों से पहले ढोल–दमाऊ वादन को शुभ माना जाता है।

"ढोलसागर" को उत्तराखंड की मौखिक सांस्कृतिक परंपरा का विशाल ज्ञानकोष माना जाता है। यह केवल तालों का संग्रह नहीं, बल्कि धार्मिक अवसरों, देवपरंपराओं, सामाजिक नियमों, अनुष्ठानों और वादन की सांकेतिक प्रणालियों का पारंपरिक ज्ञान है। पारंपरिक वादक समुदायों में यह ज्ञान गुरु–शिष्य परंपरा के माध्यम से पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होता रहा है। ढोलसागर में विभिन्न देवी–देवताओं, लोकदेवताओं और सामाजिक अवसरों के लिए विशिष्ट तालों का उल्लेख बताया जाता है।

लोकविश्वास यह भी कहता है कि ढोल केवल ध्वनि उत्पन्न नहीं करता, बल्कि चेतना और मानसिक अवस्था को प्रभावित करता है। जागर और देव–अवतरण की परंपराएँ इसी विश्वास पर आधारित हैं। लगातार दोहराई जाने वाली ताल, सामूहिक गायन, मंत्रोच्चार और अनुष्ठानिक वातावरण व्यक्ति और समुदाय दोनों पर गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि उत्तराखंड में ढोल–दमाऊ को केवल लोकसंगीत का उपकरण नहीं, बल्कि लोकआस्था, आध्यात्मिक अनुभव और सामुदायिक चेतना का माध्यम माना जाता है।

उत्तराखंड की सांस्कृतिक परंपरा में ढोल–दमाऊ इसलिए विशिष्ट स्थान रखता है, क्योंकि यहाँ यह केवल कला का विषय नहीं, बल्कि जीवन, धर्म, समाज और लोकविश्वास का अभिन्न अंग बन चुका है। यही कारण है कि पर्वतीय समाज में ढोल की ध्वनि आज भी केवल संगीत नहीं, बल्कि परंपरा, पहचान और आस्था की जीवित आवाज मानी जाती है।

हिमालय की गोद में सिख धरोहर

उत्तराखण्ड केवल देवभूमि ही नहीं, बल्कि ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, संतों और महापुरुषों की साधना–स्थली भी है। हिमालय की निर्मल वादियाँ सदियों से उन साधकों को अपनी ओर आकर्षित करती रही हैं जिन्होंने मानवता, शांति, सेवा और प्रकृति के साथ सामंजस्य का मार्ग अपनाया। यही कारण है कि सनातन परंपरा के ऋषियों के साथ–साथ जैन आचार्यों, बौद्ध भिक्षुओं तथा सिख गुरुओं ने भी इस पावन भूमि को तप, चिंतन और लोककल्याण का केंद्र बनाया।

गुरमीत सिंह चंडोक
(प्रदेश संयोजक, सिख संगत)
अपनी धरोहर न्यास

सिख परंपरा में उत्तराखण्ड का विशेष स्थान है। परंपरागत मान्यताओं के अनुसार श्री गुरु नानक देव जी ने अपनी उदासियों के दौरान हिमालय क्षेत्र का भ्रमण किया। उनकी शिक्षाओं ने यह संदेश दिया कि ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग मानव सेवा, सत्य, परिश्रम, नाम–सिमरन और प्रकृति के प्रति सम्मान से होकर जाता है। इसी प्रकार श्री गुरु गोबिंद सिंह जी से जुड़ी पावन स्मृतियाँ भी उत्तराखण्ड की पर्वतीय संस्कृति में सुरक्षित हैं। बिचित्र नाटक में वर्णित परंपरा के अनुसार अपने पूर्व अवतार में उन्होंने हेमकुंड की हिमाच्छादित वादियों में कठोर तपस्या की, जहाँ से उन्हें धर्म की रक्षा और मानव कल्याण का दिव्य संदेश प्राप्त हुआ।

उत्तराखण्ड में स्थित प्रमुख सिख तीर्थ–श्री हेमकुंड साहिब, श्री रीठा साहिब तथा श्री नानकमत्ता साहिब–मानवता, सेवा और आध्यात्मिक समरसता के जीवंत प्रतीक हैं।

श्री हेमकुंड साहिब समुद्र तल से लगभग 15,000 फीट की ऊँचाई पर स्थित विश्व के सबसे ऊँचे गुरुद्वारों में से एक है। सात हिमाच्छादित पर्वतों और पवित्र सरोवर से घिरा यह तीर्थ श्रद्धालुओं को प्रकृति और आध्यात्म के अद्भुत संगम का अनुभव कराता है। यह स्थान तप, त्याग और आत्मिक शांति का अनुपम प्रतीक है।

श्री रीठा साहिब उत्तराखण्ड की सांप्रदायिक सद्भावना का अनुपम उदाहरण है। मान्यता है कि यहाँ श्री गुरु नानक देव जी के आशीर्वाद से रीठे के फल मीठे हो गए। यह घटना केवल एक चमत्कार नहीं, बल्कि प्रेम, करुणा, समानता और मानवता के संदेश का प्रतीक है। आज भी यह स्थल सिख समाज और स्थानीय जनजीवन के आत्मीय संबंधों का सजीव प्रमाण है।

श्री नानकमत्ता साहिब श्री गुरु नानक देव जी के ऐतिहासिक प्रवास से जुड़ा प्रमुख तीर्थ है। यहाँ उन्होंने अंधविश्वास के स्थान पर सत्य, सेवा, सदाचार और ईश्वर–भक्ति का संदेश दिया। आज यह गुरुद्वारा लाखों श्रद्धालुओं की आस्था का केंद्र होने के साथ–साथ सामाजिक सेवा और जनकल्याण का प्रेरणास्रोत भी है।

उत्तराखण्ड की विशेषता केवल उसके तीर्थ नहीं हैं, बल्कि यहाँ विकसित हुई सेवा की संस्कृति है। गुरुद्वारों में बिना किसी भेदभाव के चौबीसों घंटे चलने वाला लंगर, यात्रियों की निःस्वार्थ सेवा, शिक्षा संस्थानों का संचालन, स्वास्थ्य सेवाएँ तथा प्राकृतिक आपदाओं के समय राहत एवं बचाव कार्य सिख परंपरा की उस महान भावना को अभिव्यक्त करते हैं, जिसमें सम्पूर्ण मानवता को एक परिवार माना गया है। सेवा, समर्पण और परोपकार की यह परंपरा हिमालय की विशालता के समान ही उदार और सर्वसमावेशी है।

हिमालय की संस्कृति हमें सिखाती है कि विविधता ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। यहाँ आने वाला प्रत्येक साधक–चाहे वह किसी भी धर्म, संप्रदाय या परंपरा से जुड़ा हो–प्रकृति की गोद में आत्मिक शांति, आत्मचिंतन और लोकमंगल का मार्ग खोजता है। यही कारण है कि उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक पहचान किसी एक परंपरा तक सीमित नहीं, बल्कि समस्त आध्यात्मिक धाराओं का सम्मान करने वाली समावेशी विरासत है।

आज आवश्यकता है कि हम इस साझा सांस्कृतिक धरोहर को केवल धार्मिक दृष्टि से न देखें, बल्कि इसे सामाजिक समरसता, पर्यावरण संरक्षण, सेवा, सद्भाव और राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा के रूप में आगे बढ़ाएँ। हिमालय हमें विशालता का संदेश देता है और सिख गुरु हमें सेवा, साहस, समानता तथा मानवता का मार्ग दिखाते हैं। जब ये दोनों आदर्श एक साथ आते हैं, तब ऐसी संस्कृति का निर्माण होता है जो समाज को जोड़ती है, विभाजित नहीं करती।

इसी समन्वयकारी परंपरा को आगे बढ़ाना हम सभी का दायित्व है। यही उत्तराखण्ड की आत्मा है, यही हिमालय की संस्कृति है और यही सिख गुरु परंपरा का सार्वभौमिक संदेश है–"सरबत दा भला", अर्थात समस्त मानवता का कल्याण।

अपनी धरोहर न्यास

पदाधिकारी, कार्यकारिणी सदस्य एवं स्मारिका संपादक

पदाधिकारी

संरक्षक
श्री लाखीराम जोशी जी
प्रो. दाताराम पुरोहित
श्री कुन्दन सिंह टकोला

अध्यक्ष
श्री विजय भट्ट

उपाध्यक्ष
डॉ. श्याम सिंह कार्की
डॉ. शंभू प्रसाद पाण्डेय

महामंत्री
श्री दिनेश बम

सचिव
श्री सतीश पांडे

कोषाध्यक्ष
श्री कृष्ण चंद्र बेलवाल

मंत्री
डॉ. नवीन पंत
श्री सुरेंद्र सिंह रावत
श्री संजय मठपाल
श्री वीरेन्द्र सिंह बिष्ट

महिला समिति संरक्षक
प्रो. गुड्डी बिष्ट, श्रीमती शांति जीना
महिला समिति प्रदेश संयोजिका
श्रीमती सुनीता जोशी

महिला समिति सह–संयोजिकाएँ
श्रीमती सुनीता पवार, श्रीमती सुनीता टम्टा, श्रीमती नीलम जुयाल ध्यानी

कार्यकारिणी सदस्य

- श्री लक्ष्मण सिंह भंडारी जी- उत्तरकाशी
- श्रीमान एन. बी. गुणवंत जी- हल्द्वानी
- श्रीमान आनंद सिंह भाकुनी जी- हल्द्वानी
- श्री भुवन कांडपाल जी- बागेश्वर
- श्रीमान भूपेंद्र सिंह रौतेला जी- देहरादून
- श्रीमान गिरीश पैन्यूली (बनू भाई) जी- श्रीनगर
- डॉ. चंद्र प्रकाश तिवारी जी
- श्रीमान जगदीश पिमोली जी
  अध्यक्ष, अपनी धरोहर सोसाइटी
- श्रीमान गोपाल सिंह पटवाल जी
  उपाध्यक्ष, अपनी धरोहर सोसाइटी
- श्री साकेत अग्रवाल जी
  अध्यक्ष, हिमालय जन कल्याण समिति
- डॉ. रुचि पांडे जी
  उपाध्यक्ष, हिमालय जन कल्याण समिति
- श्रीमती नमिता जी
  सचिव, हिमालय जन कल्याण समिति
- श्रीमान भूपेंद्र कांडपाल, द्वाराहाट
- सरदार गुरमीत सिंह चंडोक प्रदेश,
  संयोजक (सिख संगत)

सतीश पांडे
सचिव
अपनी धरोहर न्यास

उत्तराखंड में क्यों जरूरी है संस्कृति, त्योहार और भाषा का संरक्षण

उत्तराखंड को अक्सर देवभूमि कहा जाता है। यह शब्द सुनने में जितना आध्यात्मिक लगता है, उसके भीतर उतनी ही गहरी सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराएं छिपी हैं। यहां के पहाड़ केवल भौगोलिक संरचना नहीं हैं, बल्कि वे लोकस्मृतियों, लोकगीतों, मेलों, परंपराओं, बोलियों और सामूहिक जीवन मूल्यों के जीवित दस्तावेज हैं। लेकिन आज जिस तेजी से समाज बदल रहा है, उसी तेजी से उत्तराखंड अपनी सांस्कृतिक पहचान के एक कठिन दौर से गुजर रहा है। गांव खाली हो रहे हैं, लोकभाषाएं घरों से गायब हो रही हैं, त्योहार औपचारिकता में बदलते जा रहे हैं और नई पीढ़ी अपनी जड़ों से दूर होती जा रही है। ऐसे समय में संस्कृति, त्योहार और भाषा का संरक्षण केवल भावनात्मक मुद्दा नहीं, बल्कि सामाजिक आवश्यकता बन चुका है।

किसी भी समाज की पहचान उसकी संस्कृति से बनती है। संस्कृति केवल नृत्य, गीत या पारंपरिक वेशभूषा तक सीमित नहीं होती। यह हमारे सोचने का तरीका, रिश्तों की समझ, प्रकृति के प्रति व्यवहार और सामूहिक जीवन जीने की पद्धति भी होती है। उत्तराखंड की संस्कृति सदियों से प्रकृति के साथ संतुलन और सामूहिक सहयोग की भावना पर आधारित रही है। यहां के त्योहार केवल उत्सव नहीं, बल्कि समाज को जोड़ने का माध्यम रहे हैं।

हरेला इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। यह केवल पर्व नहीं, बल्कि प्रकृति के प्रति सम्मान और पर्यावरण संरक्षण की लोक परंपरा है। जिस समय दुनिया जलवायु परिवर्तन पर बड़े–बड़े सम्मेलन कर रही थी, उस समय पहाड़ का समाज वर्षों से पेड़–पौधों और कृषि चक्र को त्योहारों से जोड़कर प्रकृति संरक्षण का संदेश देता आया है। इसी तरह फूलदेई बच्चों को प्रकृति और सामाजिक संबंधों से जोड़ता है, जबकि इगास, घी संक्रांति, खतडुवा और उत्तरायणी जैसे त्योहार सामूहिक जीवन की ऊर्जा को जीवित रखते हैं।

लेकिन दुखद सच यह है कि आज इन त्योहारों का स्वरूप तेजी से बदल रहा है। शहरों में रहने वाली नई पीढ़ी के लिए कई पारंपरिक पर्व अब सोशल मीडिया पोस्ट या एक दिन की औपचारिक शुभकामना तक सीमित होते जा रहे हैं। त्योहारों की आत्मा धीरे–धीरे बाजारवाद और दिखावे के बीच

कमजोर पड़ रही है। यह बदलाव केवल उत्तराखंड में नहीं, पूरे देश में दिखाई देता है, लेकिन पहाड़ के लिए यह संकट अधिक गंभीर है क्योंकि यहां संस्कृति ही सामाजिक पहचान का सबसे मजबूत आधार रही है।

भाषा का संकट इससे भी बड़ा है। गढ़वाली, कुमाऊंनी, जौनसारी और अन्य लोकभाषाएं केवल संवाद का माध्यम नहीं हैं, बल्कि वे पूरे लोकज्ञान और अनुभव की वाहक हैं। हर भाषा अपने साथ जीवन देखने का एक अलग नजरिया लेकर चलती है। जब कोई भाषा कमजोर होती है तो केवल शब्द नहीं खोते, बल्कि लोककथाएं, लोकगीत, मुहावरे, पारिवारिक संवेदनाएं और सामूहिक स्मृतियां भी धीरे–धीरे समाप्त होने लगती हैं।

आज स्थिति यह है कि कई परिवारों में माता–पिता खुद अपने बच्चों से लोकभाषा में बात करने से बचते हैं। उन्हें लगता है कि इससे बच्चे आधुनिक नहीं बन पाएंगे। अंग्रेजी सीखना गलत नहीं है, हिंदी का विस्तार भी जरूरी है, लेकिन अपनी मातृभाषा को हीन समझना एक गंभीर मानसिक संकट का संकेत है। दुनिया के विकसित देशों ने अपनी भाषाओं को बचाकर आधुनिकता हासिल की है। जापान, फ्रांस, कोरिया और जर्मनी इसके उदाहरण हैं। वहां आधुनिक शिक्षा भी है और अपनी भाषा के प्रति गर्व भी। लेकिन हमारे समाज में अक्सर आधुनिकता का अर्थ अपनी जड़ों से दूरी बना लेना समझ लिया गया है।

उत्तराखंड में पलायन ने इस संकट को और गहरा किया है। हजारों गांव खाली हो चुके हैं। गांवों के खाली होने का मतलब केवल मकानों का बंद होना नहीं है, बल्कि लोकसंस्कृति का धीरे–धीरे समाप्त होना भी है। जब गांवों में लोग नहीं रहेंगे तो लोकगीत कौन गाएगा, पारंपरिक मेले कौन आयोजित करेगा, लोककथाएं कौन सुनाएगा और त्योहारों की सामूहिकता कैसे बचेगी? पहाड़ की संस्कृति हमेशा सामूहिक जीवन पर आधारित रही है। अकेला व्यक्ति संस्कृति को जीवित नहीं रख सकता।

यह भी सच है कि केवल भावुक भाषणों से संस्कृति नहीं बचाई जा सकती। इसके लिए व्यवहारिक प्रयास जरूरी हैं। सबसे पहले परिवारों को अपनी भूमिका समझनी होगी। बच्चे वही सीखते हैं जो घर में देखते और सुनते हैं। यदि माता–पिता खुद अपनी

भाषा बोलने में संकोच करेंगे तो अगली पीढ़ी उससे पूरी तरह कट जाएगी। घरों में लोकभाषा का प्रयोग बढ़ाना होगा, बच्चों को लोकगीत, लोककथाएं और स्थानीय इतिहास से जोड़ना होगा।

शिक्षा व्यवस्था की भूमिका भी बेहद महत्वपूर्ण है। स्कूलों में स्थानीय संस्कृति और लोकभाषाओं को सम्मानजनक स्थान मिलना चाहिए। बच्चों को केवल किताबों के माध्यम से नहीं, बल्कि लोक कलाकारों, ग्रामीण परंपराओं और सांस्कृतिक गतिविधियों के जरिए भी अपनी जड़ों से जोड़ा जा सकता है। आज डिजिटल माध्यमों का दौर है, इसलिए लोकभाषाओं और लोकसंस्कृति को आधुनिक तकनीक से जोड़ना भी जरूरी है। यदि गढ़वाली और कुमाऊंनी भाषा में बेहतर डिजिटल कंटेंट, फिल्में, पॉडकास्ट, लोकसंगीत और साहित्य उपलब्ध होगा, तो नई पीढ़ी उससे अधिक जुड़ाव महसूस करेगी।

सरकार और सामाजिक संगठनों की जिम्मेदारी भी कम नहीं है। सांस्कृतिक कार्यक्रम केवल औपचारिक मंचीय आयोजन बनकर न रह जाएं, इसके लिए जमीनी स्तर पर निरंतर काम करना होगा। लोक कलाकारों, पारंपरिक शिल्पकारों और

लोकभाषा के साहित्यकारों को आर्थिक और सामाजिक सम्मान मिलना जरूरी है। यदि संस्कृति से जुड़े लोगों को ही संघर्ष करना पड़ेगा, तो युवा उस दिशा में क्यों आएंगे?

उत्तराखंड की संस्कृति का संरक्षण पर्यटन और अर्थव्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है। आज दुनिया लोकसंस्कृति आधारित पर्यटन की ओर बढ़ रही है। लोग केवल पहाड़ देखने नहीं आते, वे वहां की जीवन शैली, भोजन, लोकसंगीत, त्योहार और परंपराओं को भी अनुभव करना चाहते हैं। यदि उत्तराखंड अपनी सांस्कृतिक पहचान को मजबूत रखता है, तो यह राज्य की अर्थव्यवस्था को भी नई दिशा दे सकता है। लेकिन यदि हर शहर और हर गांव एक जैसे बाजारों और कंक्रीट संरचनाओं में बदल जाएंगे, तो पहाड़ अपनी विशिष्टता खो देगा।

यह समय केवल चिंता करने का नहीं, बल्कि आत्ममंथन का भी है। हमें तय करना होगा कि हम आने वाली पीढ़ियों को क्या सौंपना चाहते हैं। केवल सड़कें, होटल और इमारतें या फिर एक जीवित सांस्कृतिक विरासत? विकास जरूरी है, आधुनिकता भी जरूरी है, लेकिन विकास का अर्थ अपनी पहचान खो देना नहीं होना चाहिए। जिस समाज की सांस्कृतिक जड़ें कमजोर हो जाती हैं, वह धीरे–धीरे आत्मिक रूप से भी कमजोर होने लगता है।

उत्तराखंड की असली ताकत उसकी संस्कृति, लोकभाषाएं और सामूहिक जीवन मूल्य हैं। इन्हें बचाना केवल अतीत को बचाना नहीं, बल्कि भविष्य को सुरक्षित करना है। क्योंकि जिस दिन कोई समाज अपनी भाषा, अपने त्योहार और अपनी लोकस्मृतियां खो देता है, उस दिन वह केवल भौगोलिक इकाई बनकर रह जाता है। उसकी आत्मा धीरे–धीरे खत्म होने लगती है।

आज जरूरत इस बात की है कि संस्कृति संरक्षण को केवल सरकारी योजना या मंचीय नारों तक सीमित न रखा जाए। इसे जनआंदोलन बनाना होगा। परिवार, समाज, स्कूल, सरकार, कलाकार और युवा, सभी को मिलकर यह जिम्मेदारी उठानी होगी। क्योंकि संस्कृति केवल विरासत नहीं होती, वह समाज की आत्मा होती है। और कोई भी समाज अपनी आत्मा खोकर लंबे समय तक जीवित नहीं रह सकता।

गढ़वाळ मा ढोल– दमौ अर वूंकि चाल

गणेश खुगशाल गणी
साहित्यकार, कवि
(लेख- गढ़वाली में)

लोक संगीत को संसार अद्भुत छ,अनूठु छ अर अनन्त छ। ढोल सागर मा बल छत्तीस वाद्य शामिल छन– ढोल, रौंटी(दमौ), जिब्या, शंख, जाम, ताल, डंवर, जंत्र, किगरी, डंडी, नकफेरा, सिंणै, बीन, बंसुळि, मुरुलि, बिणै, विमलि, सितार, खंजिरि, बेणु, सारंगि, मोछंग, मृदंग, तबला, हुड़को, भेरि, डफलि, बुरग, रणसिंगा, तुर्री, करनल, घंटा, घुंगरु, डौंरु,भाणै अर नग्यड्ड (नगाड़ा)। यूं बाजों मा सितार, मृदंग अर तबला तैं हम शास्त्रीय अर सुगम संगीत का बाजा माणी किनर बि करदौं त तैंतीस बाजा तौ बि छन। यूं बाजौं मा बि जाम, ताल, जंत्र, किगरी, डंडी, नकफेरा, विमलि, बुरग, करनल,भाणै गढ़वाळि लोकवाद्य नि छन। पर ढोल सागर का जणगूर लिख्वार का यि शामिल कर्यां छन। उन देखे जौ त गढ़वाळि लोक संगीत का बाजा ढोल, दमौ(रौंटी), डौंर–थाळि, हुड़को, ढोलक, नगाड़ो, डफड़ी, शंख, बंसुळि, मुरलि, रामसोर, अलगोजा, सिंणै, तुर्री, खांकर, रणसिंगा, मोर्छंग, चांडी, चंटी, घुंगरु, चांड, इकतारा, दुतारा अर सारंगी छन।

लोक मा संगीता यूं तमाम बाजौं मा ढोल-दमौ को अपणों थान छ, मान छ अर सम्मान छ। गढ़वाळ, कुमौं, जौनसार अर हिमाचल प्रदेश का तमाम बाजौं मा सिरमौर बाजु छ ढोल अर ढोल का दगड़ दमौ। लोक मा ढोल का मान अर माथम तैं हम इनमा बि जाणि अर माणि सकदौं कि ये बाजु तैं शिवजन्ती बोले जांद। इनि मान्यता छ कि ढोल बरमा, बिष्णु अर महेशन पार्वति दगड़ि मिली बणै। ये ढोल को नौ शिवजन्ती यानि शिव जन्त्री धारेगे। सबसे पैलि यु ढोल भगवान शिव जि न बजै।

ढोल को प्रमाणिक शास्त्र ढोल सागर माणेंद। ढोल सागर मा ढोल का ब्वे-बाब, घौरवाळिअर गोत्र को बि वर्णन होयूं। बल मादेब जि तैं पार्वतीन पूछि–

को वा सुतश्चैव को जननिजको।
को अस्य पत्नी किं गोत्रस्यढोलः।।
तब बल मादेब जि न जवाब दे–
"शंकर सुतश्चैवगिरजां च जननी।
भव–शक्ति पत्नी अग्नि गौत्रस्य ढोलः।।"

आज जु तांबो ढोल हम देखणा तै ढोल बणौण वाळा लोहार को जल्म, मुहूर्त अर नक्षत्र का बारामा बि ढोल सागर मा बतायूं छ कि–

"फाग मासे कृष्ण पक्षेशनीवारं मध्य बेला
पुनर्वसु नक्षत्रेम् कलिया लुहार मानव मा आयो।।"

अर ढोल का बजंतरि कलावंत का बारा मा ढोल सागर मा छ कि–

"माघ मासे शुक्लपक्षे अजीत वारं
उदयन्त बेला भरणी नक्षत्रेम्,
मैं ढोली मानव मा आयो
कलावन्त नाम तै दिन उ पायो।।"

ढोल सागर मा ढोल का आध्यात्मिक स्वरूप को वर्णन होयूं छ। जु इन छ–

उत्तर ढोली ढोल का मूलम,
पच्छम ढोली ढोल कि शाखा।
दक्खण ढोली ढोल का पेटम,
पूरब ढोली ढोल का आंखा।।

ढोल का माथम तैं हम इनमा बि जाण सकदां कि ढोल पर लगीं सब चीज–बस्ति देवी–द्यवतौं से जुड़ीं छन। बल डोरिका- बरमौ, नाद–पवनौ,गजाबल-भीमौ,पूड़ि- बिष्णु को, कस्णिका- गुणज्ञ,कंदोटी- कुसुम को अर कुण्डली- नाग को पुत्र माणे जांदन। यांका बारामा शास्त्रु मा उल्लेख छ कि–

आपु पुत्रं भवे ढोलं, ब्रह्म पुत्रं डोरिका।
पौन पुत्रं भवे नादम, भीम पुत्रं गजाबलम।।
बिष्णु पुत्रं भवे पूड़म,नाग पुत्रं कुण्डलिका।
कुसुम–पुत्रं कंदोटिका, गुणी पुत्रं कस्णिका।।

ढोल पर कुछ खास चीज लगीं रौदन जौं तैं जाणणु समझणु बि जरूरी छ। ढोल को एक निश्चित नाप होंद। ढोल डेढ़ फुट लम्बु होंद। ढोलै चौड़ै यानि पूड़ि को ब्यास सवा फुट होंद। ढोल का अंग होंदन जन– कंदोटी (सूतै बणी पट्टि जां पर ढोल कांधा मा लटकद), कंदोटि ढोल तैं कांधाउंद लटकौणा काम औंद। कंदोटि दैणि तरफां छाती का ऐंच अर बैं तरफां कखरेळि मूड़ रौंद तबि औंद ढोल को सज। चाक– कंदोटि तैं साधण वाळा तामा कुण्डल होया।

बिजैसार– ढोला बैं अर दैणा खण्ड तैं जोड़ण वाळि डेढ़–द्वी इंच चौड़ी पितळै पट्टि को बोलदन जु ढोल का खोळा बीचोंबीच लगी रौंद। पूड़ि– ढोला बैं अर दैंणा मुख पर मढ़ेण वाळि चमड़ै खाल खुणि बोळदन। कुण्डलि– पूड़ि तैं संभाळण वाळि बांसै कुण्डलि, बांसै द्वी कुण्डल्यूं को उपयोग करी पूड़ी बणाये जांद। द्वी कुण्डल्यूं का बीच चमड़ा स्थिर करी पूड़ तयार करेंद। पूड़ का ये फ्रेम पर बरोबर दूरि पर सूतै डोरि छिरकौणो 12 कुण्डलि दूंळि करे जांदन। पैलि पूड़ बरोबर दुसरि पूड़ बि बणायेंद। द्वियूं मा यीं फरक होंद कि एक मुलैम रौंद अर हैंकि मोटि खाल वाळि।

त्रिदेव– बिजैसार का द्वी छोड़ु तैं जोड़णवाळि तांबै मेखला ह्वे। य त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु अर महेश माणेंदन। ढोल सागर मा त त्रिदेव तैं ढोलै आध्यात्मिक पीठिका माण्यूं छ। कस्णिका– ढोल तैं सुर पर ल्हौण वाळि सूत य चमणै गुच्छि, डोरिका–ढोलै पूड़्यूं साधण वाळि सूतै डोर, गजाबल जैतैं लांकुड़ बि बोलदन। यि लखड़ै सवा फुट लम्बि डंडि होंदन। ढोलै बैं पूड़ बखरै य हिरणै मुलैम खाल कि बणी होंद जबकि दैंणि पूड़ भैंसा मा बारासिंगे मोटी खाल से बणाये जांद। बैं पूड़ि तैं मादा अर मोटि दैंणि पूड़ तैं नर बि बोलदन। दैंणि पूड़ लांकुड़नि बजाएंद। ढोल तैं सुर पर ल्हौणो कस्णिका का दगड़ै औंठो को उपयोग बि करे जांद। औंठो– लखड़ै बणी होंद जु छै इंच लम्बि अर एक इंच व्यास कि होंद। यांको उपयोग नै पूड़ चढ़ौणो होंद अर कति दौं यांन ढोल को सुर बि साधेंद।

ढोलै कस्णिका तैं गुणी पुत्र माण्यूं छ। कस्णिका ढोल का नाद तैं संयत करणो,साधणो काम करद। ढोलै पूड़ का जु बारा कुण्डलि रंध्र होंदन तौंका बि अलग–अलग नौं छनः श्रीवदे, सतु, पासमती, गणेश, रणका, छणका, बेची, गोपी, गोपाल, दुर्गा, सरस्वती अरजगति।

ढोल जादा कै ताम्बा बणदन पर पितळा ढोल बि खूब मिलि जांदन।द्यो थानु मा चांदी का ढोल बि छन। ये हिमालयी क्षेत्र मा ढोल तैं द्यो कि चार मान मिलद। जै ढोला बजण पर द्यवता औतारदन तै ढोल को मान किलै नि होणु। ढोल सागर मा ढोल बजौणै चार शैल्यूं को उल्लेख छ जु युगक्रम सतजुग, द्वापर, त्रेता अर कलिजुग का हिसाब से बढ़दिन अर बदलेंदन। यूं शैल्यूं का नौ 1–अमृत 2–सिन्धु 3– प्राणि अर 4–मध्यानि छ।

शुरुआती तीन शैलि अमृत,सिन्धु अर प्राणि शैलि का वादन कि जाणकरि आज कखि नि मिलदि। ढोल सागर मा बि इतनै जिक्र होयूं यां को क्वी परिचय नी छ। मध्यानी शैली अगवान दास जि कि स्थापित करीं छ। मध्यानी शैली कि चार उप शैली छन जु 1–सूत्रिका 2–बाकुली 3–सेन्दुरी अर 4–झाड़खण्डी का नौं से जाणेंदन। जणगूर बतौंदन कि मध्यानी शैली कि सूत्रिका अर बाकुली गढ़वाळ अर कुमौं मा खूब प्रचलित छन। सेन्दुरी अर झाड़खंडी जौनसार अर हिमाचल मा अपणा पूरा प्रभाव मा छ।

मध्यानी शैली मा बढ़ै, धुयेल, थरहरी, चौरास, चामणी, चासणी, दबुकू, सुल्तान चौक, बेलवाले, शबद, जोड़, पत्तन, रहमानी, पूछा, अपूछा, किरणांपैंसारी, सरौं अर चरितालम चाल बजाएंदन।

ढोल को भौत माथम छ पर वेकि पूर्णता दमौ से होंद। ढोल कि हर चाल खुणि दमौ भौत जरूरी होंद। ढोल का अद्भुत बोल दमौ से पूरा होंदन। बढ़ै अर धुयेल जनि कति चाल त दमौ बिनै ढोल का पुर्ये देंद। यां से पता चलद कि दमौ का बोल पूरक बोल वाळा होंदन।

दमौ एक फुट व्यास का लगभग अर आठ इंच गैरु कटोरा जन होंद। दमौ बि तांबा को हि बणद। दमौ पर भैंसै मोटी खाल कि पूड़ मढ़ेंद। दमौ कि पूड़ चढ़ौणो 32 कुण्डलि रंन्ध्र से स्थिर करेंद यांतै खैंचणो चमड़ै तांतो जाळि बुणेंद। दमौ कि पूड़ पैले उच्चा सुर मा चढ़ाएंद। दमौ बि ढोल जन कंदोटि मा लटकयेंद। दमौ बि द्वी लांकुड़्यून बजाये जांद।

दमौ का केवल तीन बोल द,ग अर न निकळद। यि तीन बोल ढोल का झा,ता झे आदि से मिली ढोल का बोलु तैं पूरण करदन। यानै ढोल अर दमौ कि रंगत अर गम्मत वादन स्थल पर अपणि तरौं को वातावरण बणौंदन।

उत्तराखंड की पौराणिक व ऐतिहासिक
कत्यूर घाटी : एक सिंहावलोकन

हरीश जोशी
लेखक एवं स्वतंत्र पत्रकार
संस्थापक सहयोगी श्री गोल ज्यू यात्रा अपनी धरोहर संस्था

हिमालय के सुरम्य क्रीड़ांगन में बसा उत्तराखण्ड क्षेत्र प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर रहा है। मानो प्रकृति ने मुक्त हस्त से यहाँ सौन्दर्य बिखेरा हो। यहाँ के गगनचुम्बी पहाड़, कल–कल कर बहती पावन नदियाँ और बेहद उपजाऊ भूमि पर लहलहाते खेत पर्यटकों को अपनी ओर सहज रूप से आकर्षित करते हैं। इसी उत्तराखण्ड क्षेत्र में स्थित सामरिक महत्व की कत्यूर घाटी यहाँ के इतिहास में चार चाँद लगाती है। समझा जाता है कि ईसा से लगभग 2500 वर्ष पूर्व से लेकर सन् 700 तक यहाँ कत्यूरी वंश का शासन रहा था। सूर्यवंशी कत्यूरी शासकों को स्थापत्य कला से बड़ा प्रेम रहा होगा। ऐसा इस घाटी में स्थित मंदिरों, नौलों (बावड़ियों) और गढ़ों (किलों) से अंदाज़ लगाया जा सकता है।

विश्वविख्यात पर्यटक स्थली कौसानी (गाँधी जी के अनुसार "भारतवर्ष का स्विट्ज़रलैंड") में प्रवेश करते ही कत्यूर घाटी का विहंगम दृश्य प्रस्तुत होता है। इसी घाटी का मानवीकरण हिन्दी साहित्य की सशक्त लेखिका व उपन्यासकार शिवानी ने कौसानी से देखने पर "किसी आसन्नप्रसवा युवती–सी पड़ी गरुड़ घाटी" के रूप में किया है।

आखिर हो भी क्यों नहीं। सरमूल से निकलने वाली जलधारा सरयू, जिसके बारे में कहा जाता है कि यही सरयू नदी अयोध्या में भी बहती है, में बागेश्वर के त्रिवेणी संगम पर अपने आपको उत्सर्ग कर देने वाली गोमती नदी इसी कत्यूर घाटी के शिखर पर सुरम्य वन–प्रांतर के मध्य स्थित अंग्यारी महादेव से उद्गम होती है।

पौराणिक कथा में गोमती "पाहन कन्या" कही गई है। कहा जाता है कि यह मुनि के आश्रम में पालित नन्दिनी गौ के सींगों के प्रहार से प्रकट हुई।

प्रचलित कथा के अनुसार अम्बरीष मुनि तपस्या में लीन थे। दुर्वासा मुनि शौच के लिए आ पहुँचे। उन्हें पानी की आवश्यकता थी। नन्दिनी गौ (अम्बरीष मुनि के आश्रम की गाय) ने दुर्वासा के क्रोध का अंदाज़ लगाते हुए, मुनि की तपस्या में बिना विघ्न डाले, समीप की एक शिला पर अपने दोनों सींग घोंप दिए, जिससे बने छिद्रों से जलधारा फूट उत्तराखंड की पौराणिक व ऐतिहासिक कत्यूर घाटी एवं श्री गोल ज्यू यात्रा : एक सिंहावलोकनपड़ी, जो वर्तमान में कत्यूर घाटी की गोमती है।

इस पर विद्वान और इतिहासकार एकमत नहीं हैं कि कार्तिकेयपुर से "कत्यूर" बना अथवा कत्यूरों द्वारा शासन किए जाने से इस घाटी का नाम "कत्यूर" पड़ा। परन्तु पीढ़ियों से चली आ रही दन्तकथाओं और कुमाऊँनी लोकसंस्कृति की जागरों के अनुसार कार्तिकेयपुर कत्यूरों की राजधानी रही थी।

वर्तमान गोमती नदी के आर–पार बैजनाथ के पास बसे दो गाँव क्रमशः तैलीहाट और सेलीहाट, कत्यूरी राजाओं की राजधानी में स्थित बाज़ार बताए जाते हैं। कुमाऊँ के तीन प्रसिद्ध शैव धाम – बागनाथ (बागेश्वर), जागनाथ (जागेश्वर) और बैजनाथ (गरुड़) के मंदिर समूहों को भी कत्यूरी शासनकाल में निर्मित माना जाता है।

कहते हैं कि इन कत्यूरों की संख्या नौ लाख थी और ये चक्रवर्ती सम्राट होने के साथ–साथ वास्तुशिल्पी भी थे। प्रायः रात में ही इनके द्वारा निर्माण कार्य किए जाने की प्रथा थी। धार्मिक प्रकृति के इन शासकों की कुछ पीढ़ियाँ आततायी के रूप में भी जानी जाती हैं। इनके अत्याचार की गाथाएँ यहाँ के मंदिरों में जागर के रूप में गायी जाती हैं, जैसे –

"हंकारो तुम्हारो बाबा, जिन ऊँचा गढ़ नीचा बनाया।
सुल्टी नाली लै लिछा, उल्टी नाली लै दिछा..."

अर्थात् –

हे बाबा, जिन्होंने ऊँचे गढ़ों को नीचा बना दिया। सुल्टी नाली (दो किलो का परिमाण) से अनाज उगाहते हो और उल्टी नाली से प्रजा को देते हो। तुम्हारे राज्य में युवा स्त्री और हृष्ट–पुष्ट बकरी भी नहीं बच पाती। हे महाराजाओं के राजा, पेड़ों पर फल–फूल भी तुम नहीं रहने देते।

(शब्दशः भावानुवाद दिया गया है, क्योंकि जागर वाचिक परम्परा में मिलती है, इसलिए बहुत से शब्द तुकबन्दी के कारण प्रत्यक्ष अर्थ नहीं उत्पन्न करते।)

बहरहाल, दन्तकथा कुछ भी रही हो, कत्यूर इस घाटी में स्थानीय देवता के रूप में आज भी पूजे जाते हैं। किंवदन्ती है कि सेलीहाट और तैलीहाट गाँवों के मध्य स्थित राजसेरा (तलहटी वाली अत्यंत उपजाऊ सिंचित भूमि) में प्रतिवर्ष आषाढ़ मास में कभी–कभी वर्षा के बीच कुछ देर के लिए धूप छिटकती है और कत्यूर घाटी के एक शीर्ष पर स्थित अणा के जंगल से रूई के फाहों–सी आकृतियाँ लुढ़कती हुई दिखाई देती हैं।

बताया जाता है कि घाटी की ओर लुढ़कती हुई ये सफेद आकृतियाँ कत्यूर ही होती हैं। यद्यपि इस दन्तकथा की कोई वैज्ञानिक प्रमाणिकता नहीं है।

संभव है वर्षा के बीच सूर्य की किरणों से उत्पन्न कोई प्राकृतिक संरचना ही यह हो। किंतु किंवदन्ती के अनुसार इन्हें कत्यूरी वंश के शासक ब्रह्मदेव की बकरियाँ कहा जाता है।

इस घाटी में बहने वाली गोमती नदी के किनारे स्थित पुरातात्विक महत्व के बैजनाथ मंदिर समूह (छोटे–बड़े कुल 18 मंदिर) को इन्हीं कत्यूरी राजाओं द्वारा निर्मित बताया जाता है। इस मंदिर समूह के एक भंडारगृह में तीन कालों – क्रमशः 8वीं शताब्दी, 12–13वीं शताब्दी तथा 17–18वीं शताब्दी – की लगभग 120 प्रस्तर प्रतिमाओं का संग्रह है। इनमें सात घोड़ों के रथ पर सवार सूर्यदेव, संभवतः भारतवर्ष में सर्वथा दुर्लभ जूताधारी सूर्यदेव, विष्णु, शिव, नवदुर्गा, वराहावतार आदि की प्रतिमाएँ प्रमुख हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय पुरातत्व विभाग के संरक्षण में स्थित इस मंदिर समूह के भंडारगृह में पाली भाषा में लिखित दो शिलालेखों का होना भी बताया जाता है। भारतवर्ष में मुगल शासनकाल के दौरान मंदिरों को खंडित करने की श्रृंखला में इस मंदिर पर भी कहर बरपा। मुख्य मंदिर के गर्भगृह में स्थित माँ पार्वती की आदमकद प्रस्तर प्रतिमा भी इस मूर्तिभंजन श्रृंखला में आंशिक रूप से खंडित हुई है। इस प्रतिमा में भगवान शिव के जीवनकाल से जुड़े अनेक चित्रण हैं। जीवंतता का आभास कराने वाली इस प्रतिमा का निर्माता आज तक अज्ञात है।

इसी मंदिर समूह के समीप गोमती नदी में एक छोटी प्राकृतिक झील है, जिसमें विभिन्न आकार–प्रकार की असंख्य मछलियाँ स्वच्छन्द रूप से जलविहार करती हुई श्रद्धालुओं द्वारा प्रदत्त चारे की प्रतीक्षा करती रहती हैं। धार्मिक दृष्टि से यहाँ मछली पकड़ना निषिद्ध है। इसी घाटी के मध्य एक छोटी चोटी पर माँ कोट भ्रामरी का भव्य एवं नयनाभिराम मंदिर स्थित है। किंवदन्ती तथा कत्यूर घाटी की भौगोलिक संरचना दोनों संकेत देती हैं कि यह सम्पूर्ण क्षेत्र पूर्व में एक विशाल झील रहा होगा। देवी भागवत महापुराण में माँ कोट भ्रामरी की कथा इस प्रकार उल्लिखित है कि "अरुण नामक दैत्य ने ब्रह्माजी को प्रसन्न करने के लिए अखण्ड तपस्या की"।

कत्यूर घाटी और गोल्ज्यू

अप्रतिम सौन्दर्य और अंतहीन कथाओं से लबरेज़ इसी कत्यूर घाटी का अपनी धरोहर संस्था द्वारा आयोजित "श्री गोल ज्यू यात्रा" से भी विशेष जुड़ाव है। श्री गोल ज्यू उत्तराखण्ड के आराध्य देव हैं। मानसखण्ड कुमाऊँ क्षेत्र में गोल ज्यू बहुसंख्यक समाज के कुलदेव और इष्टदेव के रूप में पूजे जाते हैं। गाँव–गाँव में इनके असंख्य थान विराजमान हैं। लोग परम विश्वास और आस्था के साथ गोल ज्यू तथा उनकी पैरुड़ी की पूजा–अर्चना करते हैं।

वस्तुतः कहा जा सकता है कि गोल ज्यू पूजन पर्वतीय संस्कृति का एक सनातन पहलू रहा है। इसी संस्कृति को पुरातन से नई पीढ़ी तक पहुँचाने के उद्देश्य से अपनी धरोहर संस्था द्वारा वर्ष 2023 से "श्री गोल ज्यू यात्रा" प्रारम्भ की गई, जिसकी कत्यूर घाटी जीवंत साक्षी और भागीदार रही है।

पहली "श्री गोल ज्यू संदेश यात्रा" के दौरान यात्रा दल को बागेश्वर मुख्यालय प्रवास के बाद कौसानी होते हुए आगे बढ़ना था। यात्रा के संयोजन में घोड़ाखाल, नैनीताल की विशेष भूमिका रही। घोड़ाखाल मेरी अर्धांगिनी (स्वर्गीय श्रीमती मंजू जोशी) का ननिहाल क्षेत्र है। वहाँ के पुजारी परिवार से यात्रा विषयक विमर्श के दौरान लगा कि इस ऐतिहासिक आयोजन में कत्यूर घाटी की जनभागीदारी भी होनी चाहिए।

आयोजकों से संपर्क के बाद गरुड़ में भी यात्रा का अल्पकालिक पड़ाव निर्धारित हुआ और गर्भ गोल ज्यू थान में अल्प संसाधनों तथा सूक्ष्म जलपान, किन्तु व्यापक जनभागीदारी के साथ कत्यूर घाटी को यात्रा में प्रतिनिधित्व मिला।

तब से लेकर वर्तमान तक अपनी धरोहर संस्था द्वारा यात्रा का तीसरा संस्करण भी निर्विघ्न सम्पन्न किया जा चुका है। प्रसन्नता की बात यह है कि धर्म, अध्यात्म, इतिहास और पौराणिकता से समृद्ध कत्यूर घाटी प्रतिवर्ष बढ़ती जनभागीदारी के साथ इस यात्रा का हिस्सा बनती जा रही है।

उत्तराखण्ड की संस्कृति में मातृशक्ति का महत्व : गोल्ज्यू यात्रा के संदर्भ में

नीलम ध्यानी, जुयाल
गढ़वाल संयोजिका
महिला समिति

हिमालय केवल पर्वतों का समूह नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति, अध्यात्म, प्रकृति और लोकजीवन का जीवंत केंद्र है। उत्तराखण्ड की पवित्र भूमि को देवभूमि कहा जाता है, जहां प्रत्येक पर्वत, नदी, वन और ग्राम में लोकआस्था की गहरी जड़ें दिखाई देती हैं। यह वही भूमि है, जहां भगवान शिव और माता पार्वती का निवास माना गया है। यहां नारी को केवल परिवार की आधारशिला नहीं, बल्कि संस्कृति, परंपरा और सामाजिक चेतना की वाहक के रूप में सम्मान दिया जाता है। उत्तराखण्ड की संस्कृति में मातृशक्ति का स्थान सदैव सर्वोपरि रहा है। यहां की महिलाएं केवल घर–परिवार तक सीमित नहीं रहतीं, बल्कि सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक गतिविधियों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। पर्वतीय जीवन की कठिन परिस्थितियों में, जहां पुरुष रोजगार हेतु बाहर रहते हैं, वहीं महिलाओं ने खेतों, जंगलों, परिवार और समाज की जिम्मेदारियों को समान रूप से संभाला है। यही कारण है कि उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक परंपराओं को जीवित रखने में महिलाओं का योगदान अतुलनीय माना जाता है।

गोल्ज्यू यात्रा में मातृशक्ति की प्रेरणादायी भूमिका

श्री गोल्ज्यू यात्रा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यात्रा के दौरान जहां भी यह यात्रा पहुंची, वहां मातृशक्ति ने जिस अनुशासन, श्रद्धा और समर्पण के साथ सहभागिता की, वह अपने आप में एक मिसाल है। यात्रा में लगभग 90 प्रतिशत महिलाएं अपने पारंपरिक परिधानों में उपस्थित रहती थीं। चाहे कोई गांव हो, नगर हो या जिला, प्रत्येक स्थान पर महिलाओं ने बड़ी संख्या में पहुंचकर यात्रा का स्वागत किया।

स्थानीय परंपराओं के अनुसार पूजा–अर्चना, आरती, स्वागत तथा सांस्कृतिक आयोजनों में महिलाओं की अग्रणी भूमिका देखने को मिली। विशेष बात यह रही कि इनमें अनेक महिलाएं सरकारी सेवाओं, निजी संस्थानों या अन्य कार्यों से जुड़ी हुई थीं। इसके बावजूद उन्होंने घर–परिवार की जिम्मेदारियों, बच्चों के लालन–पालन और दैनिक कार्यों को पूर्ण करते हुए यात्रा में सक्रिय सहभागिता निभाई। यह केवल एक धार्मिक आयोजन में भागीदारी नहीं थी, बल्कि यह उत्तराखण्ड की उस जीवंत परंपरा का प्रमाण था, जहां मातृशक्ति संस्कृति संरक्षण की सबसे मजबूत कड़ी बनकर सामने आती है।

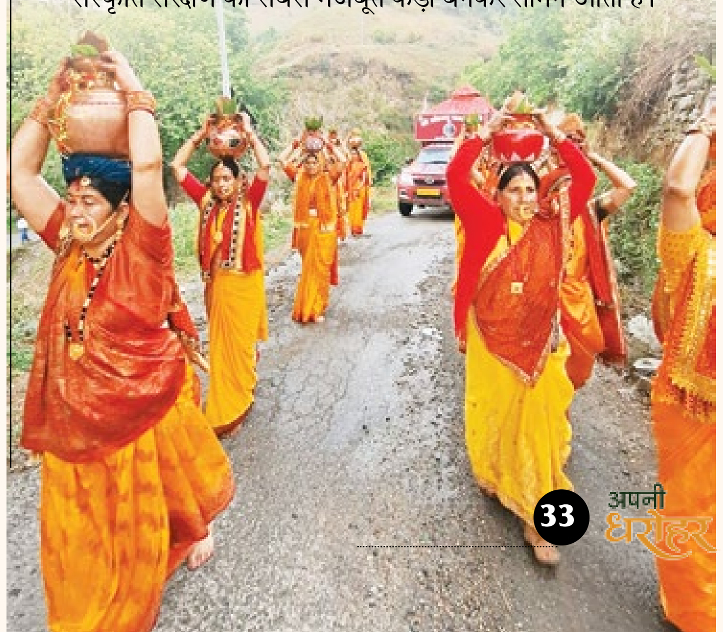

संस्कृति संरक्षण में महिलाओं की अग्रणी भूमिका

गोल्ज्यू यात्रा के दौरान अनेक महिलाओं ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। पौड़ी गढ़वाल में श्रीमती नीलम ध्यानी जुयाल, टिहरी में श्रीमती सुनीता पवार, श्रीनगर गढ़वाल में प्रोफेसर गुड्डी बिष्ट, बागेश्वर में श्रीमती सुनीता टम्टा, हल्द्वानी में श्रीमती शांति जीना एवं श्रीमती सुनीता जोशी, खटीमा में श्रीमती दया भट्ट तथा बनबसा में श्रीमती विमल सजवान जैसी अनेक महिलाओं ने यात्रा के सफल संचालन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इनके अतिरिक्त ऐसी असंख्य महिलाएं भी रहीं, जिन्होंने पर्दे के पीछे रहकर यात्रा की व्यवस्थाओं को सुचारु बनाया। श्रद्धालुओं की संख्या का प्रबंधन, संसाधनों का संग्रह, भोजन व्यवस्था, स्वागत, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का संचालन तथा स्थानीय समुदायों से समन्वय जैसे अनेक कार्यों की जिम्मेदारी महिलाओं ने अपने हाथों में लेकर निभाई। खटीमा की श्रीमती शांति पाण्डे सहित अनेक महिलाओं ने यह सिद्ध किया कि उत्तराखण्ड की महिलाएं केवल परिवार तक सीमित नहीं हैं, बल्कि समाज–निर्माण और सांस्कृतिक संरक्षण की भी महत्वपूर्ण शक्ति हैं।

परंपरा और परिवर्तन की वाहक

आज उत्तराखण्ड में महिलाएं धार्मिक और सामाजिक आयोजनों में बढ़–चढ़कर भाग ले रही हैं। महिलाओं की रामलीलाओं का प्रारंभ होना इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। हल्द्वानी में महिला रामलीला का आयोजन, जिसमें पुनर्वास समिति की अध्यक्ष श्रीमती लता बोहरा तथा श्रीमती शांति जीना जैसी महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, यह दर्शाता है कि महिलाएं अब केवल दर्शक नहीं, बल्कि आयोजक और नेतृत्वकर्ता की भूमिका में भी हैं।

भजन, कीर्तन, जागर, धार्मिक अनुष्ठान, सांस्कृतिक उत्सव तथा सरकारी कार्यक्रमों में भी महिलाओं की सक्रिय भागीदारी निरंतर बढ़ रही है। यह परिवर्तन उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक चेतना को नई ऊर्जा प्रदान कर रहा है।

मातृशक्ति : संस्कारों की प्रथम गुरु

'अपनी धरोहर महिला समिति' की संरक्षक श्रीमती शांति जीना का मानना है कि मातृशक्ति ही बच्चों को संस्कार प्रदान करती है। वही बच्चे आगे चलकर समाज और संस्कृति के संवाहक बनते हैं। उनका कहना है कि हमारी पूजा–पद्धतियां, लोकपरंपराएं, त्योहार और धार्मिक आस्थाएं तभी सुरक्षित रहेंगी, जब नई पीढ़ी को उनका ज्ञान और महत्व बताया जाएगा।

उनके अनुसार गोल्ज्यू यात्रा जैसे आयोजन केवल धार्मिक कार्यक्रम नहीं हैं, बल्कि ये आने वाली पीढ़ियों को अपनी जड़ों से जोड़ने का माध्यम हैं। इसलिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है कि वह इन परंपराओं के संरक्षण में योगदान दे।

इसी प्रकार 'अपनी धरोहर महिला समिति' की प्रदेश संयोजक श्रीमती सुनीता जोशी का कहना है कि उत्तराखण्ड में किसी भी सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक कार्यक्रम की सफलता में महिलाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। घर–गृहस्थी की जिम्मेदारियों के साथ–साथ संस्कृति संरक्षण का जो कार्य महिलाएं कर रही हैं, वह समाज के लिए प्रेरणास्त्रोत है।

शिव-पार्वती की भूमि और मातृशक्ति का स्वरूप

उत्तराखण्ड को शिव और पार्वती की भूमि कहा जाता है। यहां नंदा देवी, भगवती, चंडिका, राजराजेश्वरी, धारी देवी, पूर्णागिरि और अनेकों देवी स्वरूपों की आराधना की जाती है। इन देवियों की उपासना केवल धार्मिक आस्था नहीं, बल्कि नारी शक्ति के सम्मान का भी प्रतीक है।

पर्वतीय समाज में महिलाओं को देवी स्वरूप माना जाता है। यही कारण है कि यहां मातृशक्ति केवल परिवार का संचालन नहीं करती, बल्कि समाज को दिशा देने का कार्य भी करती है। आज भी गांवों में जल संरक्षण, वन संरक्षण, पारंपरिक कृषि, लोकगीत, लोकनृत्य और धार्मिक परंपराओं को जीवित रखने में महिलाओं की प्रमुख भूमिका है।

गोल्ज्यू यात्रा ने एक बार फिर यह प्रमाणित किया कि उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक शक्ति का सबसे मजबूत आधार मातृशक्ति है। महिलाओं की सक्रिय भागीदारी ने यात्रा को केवल धार्मिक आयोजन नहीं रहने दिया, बल्कि उसे सामाजिक जागरण, सांस्कृतिक संरक्षण और सामूहिक चेतना का अभियान बना दिया।

हिमालय की गोद में पली–बढ़ी उत्तराखण्ड की मातृशक्ति आज भी अपने परिवार, समाज और संस्कृति को समान रूप से संभाल रही है। यही महिलाएं हमारी परंपराओं की वास्तविक संरक्षक हैं और आने वाली पीढ़ियों तक हमारी सांस्कृतिक धरोहर को पहुंचाने का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम भी।

जब तक उत्तराखण्ड की मातृशक्ति अपनी संस्कृति, परंपराओं और मूल्यों के प्रति समर्पित रहेगी, तब तक देवभूमि की सांस्कृतिक पहचान सदैव अक्षुण्ण बनी रहेगी।

ढोलसागर की परम्परा, सम्मान और भविष्य

डॉ. सोहनलाल

उत्तराखण्ड की लोक–सांस्कृतिक परम्पराओं में ढोलसागर का विशिष्ट स्थान है। यह केवल एक वाद्य परम्परा नहीं, बल्कि देवभूमि की आध्यात्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का जीवंत आधार है। लोकमान्यता के अनुसार इसकी उत्पत्ति भगवान शिव के डमरू से हुई है। इसलिए उत्तराखण्ड का ढोल केवल संगीत का साधन नहीं, बल्कि देवसंवाद, लोकज्ञान और परम्पराओं का वाहक माना जाता है।

मुझे अपने पूर्वजों से प्राप्त इस विरासत को आगे बढ़ाने का अवसर मिला। वर्षों के प्रयासों से आज लगभग एक सौ से अधिक लोग प्रत्यक्ष रूप से इस क्षेत्र से जुड़े हैं और विभिन्न सांस्कृतिक दलों के माध्यम से अपनी आजीविका अर्जित कर रहे हैं। यह केवल संस्कृति संरक्षण का कार्य नहीं, बल्कि रोजगार सृजन और सामाजिक सम्मान से जुड़ा एक महत्वपूर्ण अभियान भी है।

ढोलसागर की अनेक विधाएँ आज संकट के दौर से गुजर रही हैं। इसका एक प्रमुख कारण सामाजिक भेदभाव और जातिगत संकीर्णता रही है। वर्षों तक इस परम्परा से जुड़े लोगों को वह सम्मान नहीं मिल पाया जिसके वे अधिकारी थे। परिणामस्वरूप नई पीढ़ी का एक बड़ा वर्ग इस क्षेत्र से दूर होता गया। यद्यपि आज शहरी क्षेत्रों में स्थिति पहले की अपेक्षा बेहतर हुई है, फिर भी समाज में पूर्ण समरसता स्थापित करने के लिए अभी बहुत कार्य किया जाना शेष है।

मेरा मानना है कि ढोलसागर और इससे जुड़े कलाकारों के संरक्षण के लिए केवल सांस्कृतिक कार्यक्रम पर्याप्त नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस क्षेत्र से जुड़े लोगों को शिक्षित किया जाए, उनके कौशल का विकास किया जाए तथा उन्हें सम्मानजनक और स्थायी रोजगार के अवसर उपलब्ध कराए जाएँ। साथ ही, बिचौलिया प्रथा को समाप्त करने की दिशा में भी प्रयास होने चाहिए, ताकि ढोल वादक और लोक कलाकार स्वयं अपने कार्यक्रमों, पारिश्रमिक और कार्य–शर्तों का निर्धारण कर सकें। उन्हें अपनी कला और श्रम का उचित मूल्य प्राप्त करने की स्वतंत्रता और अधिकार मिलना चाहिए।

सरकार द्वारा समय–समय पर सम्मान समारोह, प्रशिक्षण कार्यक्रम और रोजगारपरक योजनाएँ संचालित की जाती हैं, जो स्वागतयोग्य हैं। किन्तु यह भी आवश्यक है कि ढोलसागर और लोकसंस्कृति से जुड़ी नीतियों के निर्माण में वास्तविक विशेषज्ञों और परम्परा के ज्ञाताओं की सहभागिता सुनिश्चित की जाए। कई बार नीति–निर्माण ऐसे लोगों के हाथों में होता है जिन्हें इस परम्परा की गहराई, इतिहास और विधाओं का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता। यदि इस क्षेत्र के अनुभवी विद्वानों, कलाकारों और शोधकर्ताओं को निर्णय प्रक्रिया में स्थान मिले, तो परिणाम अधिक प्रभावी और दूरगामी होंगे।

प्रो. दाताराम पुरोहित, उत्तराखण्ड के सुप्रसिद्ध लोकगायक, अपनी धरोहर संस्था के पूर्व अध्यक्ष एवं पूर्व पुलिस महानिदेशक सहित अनेक विद्वानों, कलाकारों और सांस्कृतिक संगठनों ने इस परम्परा के संरक्षण और संवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विशेष रूप से श्री गणेश सिंह मार्तोलिया स्वयं ढोल वादन की परम्परा और ढोलसागर के गूढ़ ज्ञान से भली–भाँति परिचित हैं तथा उन्होंने अपने प्रशासनिक और सामाजिक जीवन में इस लोकविरासत को सम्मान दिलाने के लिए निरन्तर प्रयास किए हैं। अपनी धरोहर संस्था सहित अनेक संगठनों ने समाज में जागरूकता फैलाने और इस अमूल्य धरोहर को नई पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य किया है।

ढोलसागर केवल एक कला नहीं, बल्कि उत्तराखण्ड की सामूहिक स्मृति, लोकदर्शन और सांस्कृतिक पहचान का आधार है। यदि कलाकारों को सम्मान, शिक्षा, रोजगार और निर्णय प्रक्रिया में उचित भागीदारी मिले तथा समाज जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर समरसता की भावना को अपनाए, तो यह परम्परा न केवल सुरक्षित रहेगी बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत भी बनेगी। यही उत्तराखण्ड की इस महान सांस्कृतिक विरासत को जीवंत और सशक्त बनाए रखने का सबसे प्रभावी मार्ग है।

परम्परा, सम्मान व आत्मगौरव का माध्यम है ढोलसागर

मोहन राम दास, ढोल वादक

उत्तराखण्ड की लोक–सांस्कृतिक परम्पराओं में ढोलसागर का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह केवल एक वाद्य परम्परा नहीं, बल्कि हमारे पूर्वजों द्वारा पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित किया गया एक जीवंत ज्ञान है। ढोल हमारे लिए मात्र आजीविका का साधन नहीं, बल्कि हमारी पहचान, हमारी संस्कृति, हमारी आस्था और ईश्वर से संवाद का माध्यम है।

मुझे गर्व है कि मेरे पूर्वजों ने जो ज्ञान और परम्परा मुझे सौंपी, वही आज मेरे परिवार और आने वाली पीढ़ियों की सबसे बड़ी धरोहर बन रही है। ढोलसागर की यह विद्या केवल वादन तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें देव परम्पराओं, लोकरीति, अनुष्ठानों और सामाजिक जीवन का गहन ज्ञान समाहित है। यही कारण है कि मैं इसे अपने जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य मानता हूँ।

यदि समाज की बात करें तो विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में जातिगत भेदभाव पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है, लेकिन इसमें पहले की तुलना में काफी कमी आई है। यह परिवर्तन निश्चित रूप से सुखद और आशाजनक है। मेरे गाँव और आसपास के क्षेत्रों में लोगों की सोच बदली है तथा ढोल वादकों और इस परम्परा से जुड़े लोगों के प्रति सम्मान निरंतर बढ़ रहा है। पहले जो लोग इस परम्परा को केवल एक पेशे के रूप में देखते थे, आज वे इसकी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक महत्ता को भी समझने लगे हैं।

फिर भी कभी–कभी ऐसी घटनाएँ सामने आ जाती हैं, जब हमारे साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है। ऐसे समय में सबसे अधिक पीड़ा नई पीढ़ी को होती है। हमारे बच्चे पढ़े–लिखे हैं, जागरूक हैं और समान सम्मान की अपेक्षा रखते हैं। वे यह प्रश्न करते हैं कि जब हमारी विद्या समाज और संस्कृति की सेवा कर रही है, तो भेदभाव का कोई औचित्य कैसे हो सकता है? सच कहूँ तो कई बार उनके प्रश्नों का उत्तर देना हमारे लिए भी कठिन हो जाता है।

मेरा मानना है कि आने वाली पीढ़ी किसी भी प्रकार के जातिगत भेदभाव को स्वीकार नहीं करेगी। इसलिए समाज को समरसता और समानता की दिशा में और अधिक प्रयास करने होंगे। यदि हम चाहते हैं कि ढोलसागर जैसी महान परम्पराएँ जीवित रहें, तो उनसे जुड़े कलाकारों को सम्मान और समान अवसर प्रदान करना भी हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है।

मेरे जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन तब आया जब मैं अपनी धरोहर संस्था से जुड़ा और बाद में श्री गोल्ज्यू संदेश यात्रा का हिस्सा बनने का अवसर मिला। तीन बार इस यात्रा में सहभागिता करने के बाद समाज में हमारी पहचान और सम्मान दोनों बढ़े हैं। लोगों ने ढोलसागर की वास्तविक महत्ता को समझना शुरू किया है। इसका सीधा प्रभाव हमारे जीवन और रोजगार पर भी पड़ा है। आज हमारी टीम का विस्तार हुआ है, अनेक नए लोग हमारे साथ जुड़े हैं और कई परिवारों को इस क्षेत्र से सम्मानजनक आजीविका प्राप्त हो रही है।

आज मेरा पूरा परिवार इस परम्परा से जुड़ा हुआ है। हमारे घर की आजीविका का प्रमुख आधार ढोल वादन ही है। यह हमारे लिए केवल रोजगार नहीं, बल्कि साधना है। जब हम किसी धार्मिक अनुष्ठान, पूजा, जागर या सांस्कृतिक आयोजन में ढोल वादन करते हैं, तो हमें ऐसा अनुभव होता है जैसे हम अपनी लोक परम्पराओं और देवी–देवताओं से प्रत्यक्ष संवाद कर रहे हों।

मैं मानता हूँ कि ढोलसागर की इस प्राचीन विद्या को संरक्षित करने के लिए केवल कलाकारों के प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। समाज, सरकार, सांस्कृतिक संस्थाओं और युवाओं को मिलकर इसके संरक्षण और संवर्धन के लिए कार्य करना होगा। इस क्षेत्र से जुड़े कलाकारों को आर्थिक रूप से सशक्त बनाया जाए, प्रशिक्षण की व्यवस्था हो, नई पीढ़ी को इस ज्ञान से परिचित कराया जाए और ऐसे अवसर पैदा किए जाएँ जिनसे यह परम्परा सम्मानजनक रोजगार का माध्यम भी बन सके।

गाँव–गाँव में होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों, हवनों, मेलों और सांस्कृतिक आयोजनों के माध्यम से ऐसी लोक विधाओं को जीवित रखा जा सकता है। जितना अधिक समाज अपनी जड़ों से जुड़ेगा, उतनी ही मजबूती से हमारी सांस्कृतिक विरासत आगे बढ़ेगी।

मैं विशेष रूप से अपनी धरोहर संस्था के पूर्व अध्यक्ष एवं पूर्व पुलिस महानिदेशक श्री गणेश सिंह मार्तोलिया जी तथा संस्था के अध्यक्ष श्री विजय भट्ट जी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। श्री मार्तोलिया जी स्वयं ढोलसागर की परम्परा और उसके महत्व को गहराई से समझते हैं तथा वर्षों से इसके संरक्षण के लिए कार्य कर रहे हैं। वहीं विजय भट्ट जी और अपनी धरोहर संस्था ने समाज में इस परम्परा को सम्मान दिलाने, कलाकारों को मंच उपलब्ध कराने और नई पीढ़ी को अपनी संस्कृति से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

इन दोनों के प्रयासों और मार्गदर्शन ने न केवल मुझे, बल्कि मेरे पूरे परिवार और गाँव को एक नई पहचान प्रदान की है। श्री गोल्ज्यू संदेश यात्रा से जुड़ने के बाद हमारे बच्चों में अपनी संस्कृति के प्रति गर्व की भावना और अधिक मजबूत हुई है। आज वे इस विरासत को आगे बढ़ाने के लिए उत्साहित हैं और इसे अपने भविष्य का हिस्सा मानते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब समाज कलाकार का सम्मान करेगा, जब भेदभाव की दीवारें पूरी तरह समाप्त होंगी और जब हमारी युवा पीढ़ी गर्व के साथ अपनी संस्कृति को अपनाएगी, तब ढोलसागर की यह महान परम्परा और अधिक सशक्त होकर आगे बढ़ेगी। यही हमारे पूर्वजों के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी और यही हमारी सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण का सबसे प्रभावी मार्ग भी है।

गंगोत्री धाम में गोल्ज्यू देवता की ऐतिहासिक यात्रा

वीरेंद्र बिष्ट
गोल्ज्यू उपासक
(गढ़वाल प्रभारी),
अपनी धरोहर न्यास

उत्तराखण्ड की देव संस्कृति केवल मंदिरों और तीर्थों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह लोकजीवन, आस्था, परंपरा और सामाजिक एकता का जीवंत स्वरूप है। हिमालय की गोद में सदियों से लोकदेवताओं की पूजा–अर्चना होती रही है। इन्हीं लोकदेवताओं में न्याय के अधिष्ठाता श्री गोल्ज्यू देवता उत्तराखण्ड की जनआस्था के प्रमुख केंद्र हैं। उनके प्रति लोगों की अटूट श्रद्धा आज भी गाँव–गाँव में जीवित है।

टिहरी जनपद के बूढ़ा केदार क्षेत्र के समीप स्थित मरवाड़ी गाँव में बिष्ट परिवार पीढ़ियों से श्री गोल्ज्यू देवता का दरबार सजाता आ रहा है। यह केवल एक पारिवारिक परंपरा नहीं, बल्कि उत्तराखण्ड की प्राचीन लोकसंस्कृति और देव परंपरा का संरक्षण है। समय के साथ अनेक परंपराएँ विलुप्त होती जा रही हैं, ऐसे समय में इस परंपरा को जीवंत बनाए रखना अपने आप में एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक दायित्व है।

इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए गोल्ज्यू उपासक वीरेंद्र बिष्ट ने श्रद्धा, संकल्प और सामाजिक सहयोग के साथ पहली बार श्री गोल्ज्यू देवता की पावन डोली को गंगोत्री धाम ले जाने का निर्णय लिया। लगभग बारह वाहनों के काफिले के साथ बूढ़ा केदार क्षेत्र के श्रद्धालु, गणमान्य नागरिक तथा देवभक्त इस ऐतिहासिक यात्रा में सम्मिलित हुए। पूरी यात्रा के दौरान श्रद्धा, भक्ति और लोकसंस्कृति का अद्भुत वातावरण बना रहा।

गंगोत्री धाम पहुँचने पर माँ गंगा के पवित्र जल में श्री गोल्ज्यू देवता का विधि–विधानपूर्वक स्नान कराया गया। इसके पश्चात गंगोत्री धाम में डोली का पूजन एवं विश्राम सम्पन्न हुआ। यह क्षण सभी श्रद्धालुओं के लिए अत्यंत भावुक, गौरवपूर्ण और ऐतिहासिक था। लोकमान्यता के अनुसार पहली बार श्री गोल्ज्यू देवता की डोली का गंगोत्री धाम पहुँचना उत्तराखण्ड की देव परंपरा में एक नई ऐतिहासिक कड़ी के रूप में देखा जा रहा है।

इस पावन यात्रा में अपनी धरोहर न्यास के संस्थापक एवं अध्यक्ष विजय भट्ट भी सहभागी रहे। उन्होंने कहा कि उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक शक्ति उसकी लोकपरंपराओं में निहित है। श्री वीरेंद्र बिष्ट ने जिस श्रद्धा, समर्पण और संगठन क्षमता के साथ इस यात्रा का नेतृत्व किया, वह अत्यंत सराहनीय है। यह आयोजन दर्शाता है कि जब समाज अपनी जड़ों से जुड़ता है, तब संस्कृति केवल सुरक्षित नहीं रहती, बल्कि नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा का स्रोत बन जाती है।

इस यात्रा में बूढ़ा केदार क्षेत्र के अनेक गणमान्य व्यक्तियों, युवाओं, महिलाओं तथा श्रद्धालुओं ने बढ़–चढ़कर भाग लिया। सभी ने मिलकर जिस आत्मीयता, अनुशासन और सहयोग की भावना का परिचय दिया, वह उत्तराखण्ड की सामूहिक सांस्कृतिक चेतना का सुंदर उदाहरण है। यह यात्रा नई और पुरानी पीढ़ी के समन्वय का भी सशक्त संदेश देती है।

श्री गोल्ज्यू देवता न्याय, सत्य और लोककल्याण के प्रतीक हैं। उनकी यह गंगोत्री यात्रा केवल एक धार्मिक आयोजन नहीं, बल्कि उत्तराखण्ड की लोकसंस्कृति, देव परंपरा, सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रेरणादायी अभियान है। ऐसी यात्राएँ हमारी सांस्कृतिक विरासत को जीवित रखने के साथ–साथ समाज में एकता, आस्था और सेवा की भावना को भी सुदृढ़ करती हैं।

हिमालय की पावन वादियों से निकला यह संदेश आने वाली पीढ़ियों को अपनी संस्कृति, अपने लोकदेवताओं और अपनी परंपराओं पर गर्व करना सिखाता है। यही हमारी पहचान है, यही हमारी धरोहर है और यही उत्तराखण्ड की अमूल्य सांस्कृतिक विरासत है।

आधुनिक उत्तराखंड में मातृशक्ति की भूमिका

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" भारतीय संस्कृति का यह शाश्वत वाक्य उत्तराखण्ड की मातृशक्ति पर पूर्णतः चरितार्थ होता है। देवभूमि उत्तराखण्ड की पहचान केवल हिमालय, नदियों और मंदिरों से ही नहीं है, बल्कि यहां की मातृशक्ति की कर्मठता, त्याग, संस्कृति–रक्षा और आध्यात्मिक चेतना से भी है। उत्तराखण्ड की महिलाएं सदियों से परिवार, समाज और प्रकृति के बीच संतुलन स्थापित करती आई हैं। आज जब राज्य आधुनिक विकास, विज्ञान और तकनीकी प्रगति के नए आयाम स्थापित कर रहा है, तब भी यहां की मातृशक्ति अपनी सांस्कृतिक जड़ों को मजबूती से थामे हुए है।

सुनीता जोशी
प्रदेश संयोजिका (महिला समिति)
अपनी धरोहर न्यास

आधुनिक उत्तराखण्ड में महिलाएं शिक्षा, चिकित्सा, प्रशासन, सेना, पुलिस, न्यायपालिका, विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी, पर्यटन, उद्यमिता, कृषि, पर्यावरण संरक्षण तथा सामाजिक नेतृत्व जैसे क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान दे रही हैं। वे डिजिटल तकनीक और आधुनिक शिक्षा को अपनाते हुए भी अपने संस्कारों, लोक परम्पराओं, धार्मिक आस्थाओं और सामाजिक मूल्यों को सुरक्षित रखे हुए हैं। यही संतुलन उत्तराखण्ड की मातृशक्ति को विशिष्ट बनाता है।

संस्कृति की सबसे बड़ी संरक्षक

उत्तराखण्ड की लोकसंस्कृति का वास्तविक संरक्षण महिलाओं ने ही किया है। घर–परिवार में बच्चों को संस्कार देना, लोकभाषाओं का प्रयोग करना, पारम्परिक रीति–रिवाजों का पालन कराना तथा पर्व–त्योहारों को जीवंत बनाए रखना मुख्यतः महिलाओं के माध्यम से ही संभव हुआ है। विवाह, नामकरण, यज्ञोपवीत, गृहप्रवेश, देवी–पूजन, इष्टदेव पूजन, हरेला, फूलदेई, इगास–बग्वाल, घी–संक्रांति, उत्तरायणी, भिटौली, रक्षा बंधन, नवरात्र, दीपावली तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर महिलाएं सामूहिक रूप से मंगल गीत, शकुनाखर, झोड़ा, चांचरी, भगनौल, जागर तथा देवी–भजन गाती हैं। इन गीतों में केवल संगीत नहीं, बल्कि पीढ़ियों का इतिहास, लोकज्ञान, सामाजिक संदेश और आध्यात्मिक चेतना भी समाहित होती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयोजनों में महिलाएं बिना किसी आर्थिक अपेक्षा के निःस्वार्थ भाव से अपनी सेवाएं देती हैं। यह सेवा–भाव उत्तराखण्ड की संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है और यही हमारी सामाजिक पूंजी है।

घरेलू जीवन से समाज निर्माण तक

उत्तराखण्ड की महिला केवल परिवार की गृहिणी नहीं, बल्कि पूरे समाज की निर्माता, संस्कारों की संवाहक तथा विकास की सशक्त आधारशिला है। उसके व्यक्तित्व में ममता, त्याग, परिश्रम, धैर्य और नेतृत्व का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। वह अपने परिवार की देखभाल करने के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन को भी सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वास्तव में किसी भी समाज की प्रगति उसकी महिलाओं की स्थिति, शिक्षा और सहभागिता पर निर्भर करती है, और इस दृष्टि से उत्तराखण्ड की महिलाओं का योगदान अत्यंत प्रेरणादायक है।

घरेलू जीवन में महिला सबसे पहले बच्चों की प्रथम शिक्षिका होती है। वह उन्हें केवल शिक्षा ही नहीं, बल्कि नैतिकता, अनुशासन, संस्कार, सहिष्णुता, सहयोग, ईमानदारी और राष्ट्रप्रेम जैसे जीवन–मूल्यों का पाठ पढ़ाती है। परिवार के बुजुर्गों की सेवा, उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखना तथा परिवार के प्रत्येक सदस्य के बीच प्रेम, सम्मान और सामंजस्य बनाए रखना भी उसकी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। परिवार की आर्थिक व्यवस्था को संतुलित रखने, संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करने तथा भविष्य के लिए बचत की भावना विकसित करने में भी महिलाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रहती है।

उत्तराखण्ड के ग्रामीण जीवन में महिलाओं का योगदान और भी व्यापक एवं श्रमसाध्य है। पर्वतीय क्षेत्रों की कठिन भौगोलिक परिस्थितियों में वे खेती–बाड़ी, पशुपालन, दुग्ध उत्पादन, घास एवं लकड़ी संग्रह, जल स्त्रोतों के संरक्षण, ईंधन और चारे की व्यवस्था तथा जैविक खेती जैसे अनेक कार्यों का दायित्व निभाती हैं। पारम्परिक बीजों का संरक्षण, स्थानीय अनाजों और खाद्य पदार्थों का उत्पादन तथा पारम्परिक ज्ञान और लोक संस्कृति को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। अनेक स्थानों पर पुरुषों के रोजगार के लिए बाहर जाने के कारण पूरे परिवार और कृषि व्यवस्था का संचालन महिलाओं के कंधों पर ही होता है, जिसे वे अत्यंत दक्षता और धैर्य के साथ निभाती हैं।

महिलाएँ पर्यावरण संरक्षण की स्वाभाविक संरक्षक भी हैं। जल, जंगल और जमीन के महत्व को समझते हुए वे प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में सक्रिय भागीदारी निभाती हैं। उत्तराखण्ड के इतिहास में अनेक पर्यावरण आंदोलनों में महिलाओं ने अग्रणी भूमिका निभाकर यह सिद्ध किया कि प्रकृति और जीवन के बीच संतुलन बनाए रखने में उनकी भागीदारी कितनी महत्वपूर्ण है। जल संरक्षण, वृक्षारोपण, स्वच्छता अभियान तथा जैव विविधता के संरक्षण जैसे कार्यों में आज भी उनका योगदान उल्लेखनीय है।

समय के साथ उत्तराखण्ड की महिलाओं ने शिक्षा, विज्ञान, प्रशासन, चिकित्सा, न्याय, पत्रकारिता, बैंकिंग, उद्योग और उद्यमिता जैसे विविध क्षेत्रों में भी अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित की है। आज वे शिक्षिका, चिकित्सक, नर्स, बैंक अधिकारी, प्रशासनिक अधिकारी, अधिवक्ता, पत्रकार, वैज्ञानिक, प्रोफेसर, उद्यमी तथा सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में समाज के विकास में सक्रिय योगदान दे रही हैं। स्वयं सहायता समूहों, महिला सहकारी समितियों तथा लघु उद्योगों के माध्यम से वे आर्थिक आत्मनिर्भरता की दिशा में उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं। हस्तशिल्प, बुनाई, जैविक उत्पाद, स्थानीय खाद्य पदार्थों और स्वरोजगार आधारित गतिविधियों के माध्यम से वे न केवल अपनी आय बढ़ा रही हैं, बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को भी सशक्त बना रही हैं।

सामाजिक जीवन में भी महिलाएँ जागरूक नागरिक के रूप में शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, नशामुक्ति, महिला सशक्तिकरण और बाल विकास जैसे क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। पंचायतों, स्थानीय निकायों और विभिन्न सामाजिक संगठनों में उनकी सक्रिय भागीदारी लोकतांत्रिक व्यवस्था को मजबूत बनाने के साथ–साथ समाज में समानता, न्याय और समरसता को भी बढ़ावा दे रही है। निस्संदेह, उत्तराखण्ड की महिला केवल एक परिवार की गृहिणी नहीं, बल्कि समाज की संस्कृति, परम्पराओं, मूल्यों और विकास की सशक्त वाहक है। उसका श्रम, समर्पण, संघर्ष और नेतृत्व समाज को निरंतर आगे बढ़ाने की प्रेरणा देता है। यदि महिलाओं को समान अवसर, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, सुरक्षा और सम्मान प्राप्त हो, तो वे न केवल अपने परिवार, बल्कि पूरे राज्य और राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में और भी प्रभावी योगदान दे सकती हैं।

आर्थिक आत्मनिर्भरता में अग्रसर

वर्तमान समय में उत्तराखण्ड की महिलाएं आर्थिक आत्मनिर्भरता की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति कर रही हैं। बदलते सामाजिक और आर्थिक परिवेश, सरकारी योजनाओं, स्वयं सहायता समूहों, कौशल विकास कार्यक्रमों तथा आधुनिक तकनीक के प्रभाव से महिलाओं ने पारंपरिक भूमिकाओं से आगे बढ़कर स्वरोजगार और उद्यमिता के क्षेत्र में अपनी सशक्त पहचान बनाई है। आज वे केवल परिवार की आय में सहयोग करने तक सीमित नहीं हैं, बल्कि स्वयं रोजगार सृजित कर अन्य लोगों को भी रोजगार के अवसर उपलब्ध करा रही हैं। यह परिवर्तन उत्तराखण्ड के ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

राज्य में स्वयं सहायता समूह महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण का एक प्रभावी माध्यम बनकर उभरे हैं। इन समूहों के माध्यम से महिलाएं सामूहिक बचत, लघु ऋण तथा छोटे–छोटे उद्यमों का संचालन कर रही हैं। वे जैविक कृषि उत्पाद, पारंपरिक मसाले, अचार, पापड़, बुरांश का जूस, मंडुवा, झंगोरा, गहत, भट्ट, राजमा तथा अन्य पहाड़ी दालों का उत्पादन और विपणन कर रही हैं। स्थानीय उत्पादों की बढ़ती मांग ने इन महिलाओं को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय बाजार तक पहुंचने का अवसर भी प्रदान किया है। इससे न केवल उनकी आय में वृद्धि हुई है, बल्कि उत्तराखण्ड के पारंपरिक कृषि उत्पादों और खाद्य संस्कृति को भी नई पहचान मिली है।

हस्तशिल्प और कुटीर उद्योग के क्षेत्र में भी महिलाओं का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे ऊनी वस्त्र, शॉल, पंखी, टोपी, हस्तनिर्मित सजावटी वस्तुएं, रिंगाल एवं बाँस से बने उत्पाद, प्राकृतिक रेशों से तैयार सामग्री तथा स्थानीय कला पर आधारित अनेक वस्तुओं का निर्माण कर रही हैं। इन उत्पादों की बिक्री स्थानीय मेलों, प्रदर्शनियों, राज्य स्तरीय आयोजनों तथा ऑनलाइन प्लेटफॉर्मों के माध्यम से की जा रही है, जिससे उनकी आय के नए स्रोत विकसित हुए हैं।

पर्यटन उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है और इसमें भी महिलाओं की भागीदारी निरंतर बढ़ रही है। अनेक महिलाएं होम–स्टे का सफल संचालन कर रही हैं, जहाँ वे पर्यटकों को स्थानीय भोजन, संस्कृति और पारंपरिक जीवनशैली का अनुभव कराती हैं। इसके अतिरिक्त होटल व्यवसाय, भोजनालय, ट्रैवल सेवाएं, ट्रैकिंग गाइड, स्थानीय हस्तशिल्प की बिक्री तथा सांस्कृतिक पर्यटन से जुड़ी गतिविधियों में भी महिलाएं सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़े हैं और पलायन की समस्या को कम करने में भी सहायता मिल रही है।

आज उत्तराखण्ड की महिलाएं आधुनिक व्यवसायों को भी तेजी से अपना रही हैं। अनेक महिलाएं किराना स्टोर, बुटीक, ब्यूटी पार्लर, डेयरी, पोल्ट्री, मशरूम उत्पादन, मधुमक्खी पालन, मत्स्य पालन तथा फूलों की खेती जैसे स्वरोजगार के क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर रही हैं। कई महिलाएं टैक्सी संचालन, वाहन चलाने तथा परिवहन सेवाओं में भी अपनी पहचान बना रही हैं, जो सामाजिक परिवर्तन का एक सकारात्मक संकेत है। यह दर्शाता है कि महिलाएं उन क्षेत्रों में भी आगे बढ़ रही हैं जिन्हें कभी केवल पुरुषों का कार्यक्षेत्र माना जाता था।

डिजिटल क्रांति ने महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण को नई गति प्रदान की है। आज वे ई–कॉमर्स प्लेटफॉर्म, सोशल मीडिया, डिजिटल मार्केटिंग, ऑनलाइन भुगतान प्रणाली, यूनिफाइड पेमेंट्स इंटरफेस (वढक) तथा सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से अपने उत्पादों और सेवाओं को देशभर के ग्राहकों तक पहुँचा रही हैं। मोबाइल फोन और इंटरनेट के उपयोग ने उन्हें बाजार से सीधे जोड़ दिया है, जिससे बिचौलियों पर निर्भरता कम हुई है और लाभ में वृद्धि हुई है। डिजिटल साक्षरता ने महिलाओं के आत्मविश्वास को भी मजबूत किया है तथा उन्हें आधुनिक आर्थिक व्यवस्था का सक्रिय भागीदार बनाया है।

आर्थिक आत्मनिर्भरता का यह परिवर्तन केवल आय अर्जित करने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह महिलाओं के सामाजिक सम्मान, आत्मविश्वास, निर्णय लेने की क्षमता और नेतृत्व कौशल को भी सुदृढ़ कर रहा है। आज आर्थिक रूप से सक्षम महिलाएं परिवार के महत्वपूर्ण निर्णयों में सक्रिय भागीदारी निभा रही हैं, अपने बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य पर अधिक निवेश कर रही हैं तथा समाज में प्रेरणास्रोत के रूप में उभर रही हैं। इस प्रकार उत्तराखण्ड की महिलाएं आर्थिक आत्मनिर्भरता के माध्यम से न केवल अपने जीवन को सशक्त बना रही हैं, बल्कि राज्य के समग्र सामाजिक और आर्थिक विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

विज्ञान व तकनीक के साथ आध्यात्मिकता

वर्तमान युग विज्ञान, प्रौद्योगिकी और डिजिटल नवाचार का युग है। ऐसे समय में उत्तराखण्ड की महिलाएं आधुनिक तकनीक को अपनाते हुए निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर हैं। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि आधुनिक विज्ञान और तकनीक को अपनाने का अर्थ अपनी संस्कृति, परम्पराओं और आध्यात्मिक मूल्यों से दूर होना नहीं है। बल्कि उत्तराखण्ड की महिलाओं ने आधुनिक जीवनशैली और भारतीय सांस्कृतिक विरासत के बीच एक सुंदर और प्रेरणादायक संतुलन स्थापित किया है।

आज राज्य की महिलाएं मोबाइल फोन, इंटरनेट, स्मार्ट एप्लिकेशन, डिजिटल बैंकिंग, यूनिफाइड पेमेंट्स इंटरफेस, ऑनलाइन शिक्षा, टेलीमेडिसिन तथा सोशल मीडिया जैसे आधुनिक साधनों का प्रभावी और सकारात्मक उपयोग कर रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाएं भी डिजिटल माध्यमों से सरकारी योजनाओं की जानकारी प्राप्त कर रही हैं, ऑनलाइन बैंकिंग सेवाओं का लाभ उठा रही हैं तथा अपने स्वरोजगार और स्वयं सहायता समूहों के उत्पादों का प्रचार–प्रसार सोशल मीडिया और ई–कॉमर्स प्लेटफॉर्मों के माध्यम से कर रही हैं। इससे उनकी आर्थिक गतिविधियों का विस्तार हुआ है और वे देश–विदेश के बाजारों तक अपनी पहुँच बनाने में सफल हुई हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी तकनीक ने महिलाओं के लिए नए अवसर खोले हैं। छात्राएं ऑनलाइन कक्षाओं, डिजिटल पुस्तकालयों, ई–लर्निंग प्लेटफॉर्मों तथा विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के लिए इंटरनेट का उपयोग कर रही हैं। अनेक महिलाएं ऑनलाइन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से नए कौशल सीख रही हैं, जिससे उन्हें रोजगार और स्वरोजगार के बेहतर अवसर प्राप्त हो रहे हैं। स्वास्थ्य संबंधी जानकारी, डिजिटल परामर्श और ऑनलाइन सेवाओं ने भी महिलाओं के जीवन को अधिक सुविधाजनक और सुरक्षित बनाया है।

सोशल मीडिया का सकारात्मक उपयोग भी उत्तराखण्ड की महिलाओं की एक नई पहचान बनकर उभरा है। वे इसके माध्यम से शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण, महिला सशक्तिकरण, स्थानीय संस्कृति, हस्तशिल्प, लोकभाषा तथा पारंपरिक उत्पादों के प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। अनेक महिला उद्यमी अपने उत्पादों का विपणन फेसबुक, इंस्टाग्राम, व्हाट्सएप और अन्य डिजिटल माध्यमों से कर रही हैं, जिससे उनकी आय और पहचान दोनों में वृद्धि हुई है।

आधुनिक विज्ञान और तकनीक को अपनाने के साथ–साथ उत्तराखण्ड की महिलाएं अपनी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं से भी गहराई से जुड़ी हुई हैं। देवभूमि उत्तराखण्ड की धार्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत उनके दैनिक जीवन का अभिन्न अंग है। वे योग, ध्यान, पूजा–पाठ, व्रत–उपवास, लोकदेवताओं की आराधना तथा विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक आयोजनों में सक्रिय भागीदारी निभाती हैं। घर–परिवार में धार्मिक वातावरण बनाए रखना, बच्चों को नैतिक एवं सांस्कृतिक संस्कार देना तथा पारंपरिक रीति–रिवाजों का संरक्षण करना उनके जीवन का महत्वपूर्ण पक्ष है।

उत्तराखण्ड की महिलाएं हरेला, फूलदेई, इगास, घी संक्रांति, नंदा देवी महोत्सव तथा अन्य स्थानीय पर्वों और लोकपरम्पराओं को पूरे उत्साह के साथ मनाती हैं। इन आयोजनों के माध्यम से वे नई पीढ़ी को अपनी सांस्कृतिक धरोहर, लोकगीतों, लोकनृत्यों, पारंपरिक भोजन, लोककथाओं और सामाजिक मूल्यों से परिचित कराती हैं। इस प्रकार वे आधुनिकता के साथ–साथ अपनी सांस्कृतिक पहचान को भी सुरक्षित रखने का महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

योग और ध्यान को अपने दैनिक जीवन का हिस्सा बनाकर महिलाएं शारीरिक स्वास्थ्य के साथ–साथ मानसिक संतुलन और आत्मिक शांति को भी महत्व देती हैं। आधुनिक जीवन की व्यस्तता और चुनौतियों के बीच यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण उन्हें सकारात्मक सोच, धैर्य, आत्मविश्वास और जीवन के प्रति संतुलित दृष्टि प्रदान करता है। यही कारण है कि वे परिवार और समाज दोनों में प्रेरणा का स्रोत बनी हुई हैं।

विज्ञान और आध्यात्मिकता का यह अद्भुत समन्वय उत्तराखण्ड की महिलाओं की सबसे बड़ी विशेषता है। वे एक ओर आधुनिक तकनीक का उपयोग कर शिक्षा, रोजगार, उद्यमिता और सामाजिक विकास में नई ऊँचाइयाँ प्राप्त कर रही हैं, तो दूसरी ओर भारतीय जीवन मूल्यों, संस्कृति, नैतिकता और आध्यात्मिक परम्पराओं को भी पूरी निष्ठा के साथ संरक्षित कर रही हैं। यही संतुलित दृष्टिकोण आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। यह संदेश देता है कि वास्तविक प्रगति वही है, जिसमें आधुनिक ज्ञान और वैज्ञानिक सोच के साथ अपनी सांस्कृतिक जड़ों, नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक विरासत का संरक्षण भी समान रूप से किया जाए। उत्तराखण्ड की महिलाएं इसी संतुलित विकास की सशक्त प्रतीक हैं।

पर्यावरण व संस्कृति संरक्षण में मातृशक्ति

उत्तराखण्ड की महिलाओं का प्रकृति से गहरा संबंध रहा है। जंगल, जल और जमीन के संरक्षण में उनका योगदान ऐतिहासिक है। चिपको आंदोलन से लेकर आज तक महिलाओं ने पर्यावरण संरक्षण का नेतृत्व किया है। जल स्रोतों का संरक्षण, वृक्षारोपण, जैव विविधता की रक्षा तथा स्वच्छता अभियान में उनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है।

आज तेजी से बदलती जीवनशैली के कारण अनेक लोकगीत, लोकभाषाएं, पारम्परिक रीति–रिवाज तथा सांस्कृतिक परम्पराएं धीरे–धीरे लुप्त होने लगी हैं। यदि समय रहते इनका दस्तावेजीकरण, डिजिटल संरक्षण तथा नई पीढ़ी तक हस्तांतरण नहीं किया गया तो हमारी अमूल्य सांस्कृतिक विरासत संकट में पड़ सकती है। विद्यालयों, महाविद्यालयों, सामाजिक संस्थाओं तथा सांस्कृतिक संगठनों को महिलाओं के अनुभवों, लोकगीतों, मंगल गीतों, पारम्परिक ज्ञान, लोककथाओं तथा धार्मिक परम्पराओं का व्यवस्थित संरक्षण करना चाहिए। यह केवल संस्कृति का संरक्षण नहीं, बल्कि हमारी पहचान और भविष्य का संरक्षण है।

उत्तराखण्ड की मातृशक्ति का जीवन प्रकृति और संस्कृति दोनों से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। हिमालय की गोद में बसे इस राज्य में महिलाओं ने सदियों से जल, जंगल और जमीन को केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं, बल्कि जीवन का आधार और देवतुल्य धरोहर माना है। उनका दैनिक जीवन प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि उत्तराखण्ड की महिलाओं ने पर्यावरण संरक्षण और सांस्कृतिक विरासत के संवर्धन में ऐसी ऐतिहासिक भूमिका निभाई है, जिसने पूरे देश को प्रेरित किया है।

पर्वतीय जीवन की कठिन परिस्थितियों में महिलाओं का अधिकांश समय जंगलों, खेतों और जलस्रोतों से जुड़ा रहता है। वे पशुओं के लिए चारा, परिवार के लिए जल और ईंधन की व्यवस्था करने के साथ–साथ कृषि कार्यों में भी महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। इस निरंतर संपर्क ने उन्हें प्रकृति के महत्व, पर्यावरणीय संतुलन तथा जैव विविधता के संरक्षण का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया है। वे भली–भाँति समझती हैं कि यदि जंगल सुरक्षित रहेंगे तो जलस्रोत जीवित रहेंगे, कृषि समृद्ध होगी और आने वाली पीढ़ियों का भविष्य सुरक्षित रहेगा।

उत्तराखण्ड के इतिहास में पर्यावरण संरक्षण की बात जब भी होती है, चिपको आंदोलन का नाम सबसे पहले लिया जाता है। इस आंदोलन में महिलाओं ने अद्भुत साहस और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए वृक्षों को कटने से बचाने के लिए उन्हें अपनी बाहों में जकड़ लिया। उन्होंने यह स्पष्ट संदेश दिया कि वन केवल लकड़ी का स्रोत नहीं, बल्कि जीवन, जल, मिट्टी और आजीविका के आधार हैं। यह आंदोलन केवल पर्यावरण संरक्षण का अभियान नहीं था, बल्कि महिलाओं के नेतृत्व, सामाजिक चेतना और प्रकृति के प्रति उनकी संवेदनशीलता का विश्वव्यापी उदाहरण बन गया। आज भी उत्तराखण्ड की महिलाएं वृक्षारोपण, जल संरक्षण, वर्षा जल संचयन, जैविक खेती, प्लास्टिक मुक्त अभियान तथा स्वच्छता कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी निभाकर पर्यावरण संरक्षण की इस परम्परा को आगे बढ़ा रही हैं।

जैव विविधता के संरक्षण में भी महिलाओं का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे स्थानीय बीजों का संरक्षण करती हैं, औषधीय पौधों की पहचान और उपयोग का पारंपरिक ज्ञान संजोकर रखती हैं तथा प्राकृतिक संसाधनों का संतुलित उपयोग करना जानती हैं। मंडुवा, झंगोरा, गहत, भट्ट, राजमा और अनेक पारंपरिक फसलों की खेती को जीवित रखने में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह केवल कृषि का संरक्षण नहीं, बल्कि पोषण सुरक्षा, जैव विविधता और स्थानीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का कार्य भी है।

प्राकृतिक धरोहर के साथ–साथ उत्तराखण्ड की सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में भी महिलाओं का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे परिवार की प्रथम संस्कारदाता होने के साथ–साथ लोकसंस्कृति की जीवंत संवाहक भी हैं। पीढ़ी–दर–पीढ़ी लोकगीत, मंगलगीत, जागर, लोककथाएं, लोकभाषाएं, पारंपरिक व्यंजन, धार्मिक अनुष्ठान, लोकनृत्य तथा सामाजिक परम्पराएं मुख्यतः महिलाओं के माध्यम से ही सुरक्षित और जीवित रही हैं। हरेला, फूलदेई, इगास, घी संक्रांति, नंदा देवी महोत्सव तथा अन्य अनेक पर्वों और मेलों की परम्पराओं को संरक्षित रखने में महिलाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। इन आयोजनों के माध्यम से वे बच्चों और युवाओं को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ती हैं तथा सामाजिक एकता और पारिवारिक मूल्यों को मजबूत बनाती हैं।

किन्तु वर्तमान समय में तीव्र शहरीकरण, पलायन, वैश्वीकरण और बदलती जीवनशैली के कारण अनेक लोकभाषाएं, लोकगीत, पारंपरिक रीति–रिवाज, हस्तकलाएं तथा सांस्कृतिक परम्पराएं धीरे–धीरे विलुप्त होने के खतरे का सामना कर रही हैं। नई पीढ़ी आधुनिक तकनीक से तो जुड़ रही है, परन्तु कई बार अपनी सांस्कृतिक विरासत से उसका संबंध कमजोर पड़ता दिखाई देता है। यदि समय रहते इन अमूल्य धरोहरों का व्यवस्थित दस्तावेजीकरण, डिजिटलीकरण और संरक्षण नहीं किया गया, तो आने वाली पीढ़ियां अपने समृद्ध सांस्कृतिक इतिहास से वंचित हो सकती हैं।

इस दिशा में विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, सांस्कृतिक संस्थाओं, सामाजिक संगठनों तथा स्थानीय समुदायों को मिलकर कार्य करने की आवश्यकता है। महिलाओं के जीवन अनुभवों, लोकगीतों, मंगलगीतों, लोककथाओं, पारंपरिक कृषि ज्ञान, औषधीय वनस्पतियों की जानकारी, हस्तशिल्प, धार्मिक अनुष्ठानों तथा लोकभाषाओं का वैज्ञानिक ढंग से दस्तावेजीकरण किया जाना चाहिए। आधुनिक डिजिटल तकनीक का उपयोग करते हुए इन धरोहरों का ऑडियो, वीडियो और डिजिटल अभिलेख तैयार किए जाएँ, ताकि भविष्य की पीढ़ियाँ भी इस ज्ञान और संस्कृति से लाभान्वित हो सकें। साथ ही विद्यालयी शिक्षा में स्थानीय संस्कृति, लोकसाहित्य और पारंपरिक ज्ञान को उचित स्थान देकर बच्चों में अपनी जड़ों के प्रति सम्मान और गर्व की भावना विकसित की जानी चाहिए।

उत्तराखण्ड की मातृशक्ति केवल परिवार की आधारशिला नहीं, बल्कि समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, पर्यावरण और राष्ट्र निर्माण की प्रेरक शक्ति है। उन्होंने आधुनिकता और परम्परा के बीच ऐसा संतुलन स्थापित किया है, जो सम्पूर्ण भारत के लिए अनुकरणीय है। एक ओर वे शिक्षा, विज्ञान, तकनीक, उद्यमिता और नेतृत्व के क्षेत्र में नई उपलब्धियाँ प्राप्त कर रही हैं, तो दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक पहचान, नैतिक मूल्यों और पर्यावरणीय चेतना को भी समान निष्ठा से सुरक्षित रखे हुए हैं।

आज आवश्यकता है कि समाज उनके अमूल्य योगदान का उचित सम्मान करे तथा उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, तकनीकी प्रशिक्षण, आर्थिक अवसर और नेतृत्व के अधिकाधिक मंच उपलब्ध कराए। साथ ही उनकी सांस्कृतिक एवं पारंपरिक धरोहर के संरक्षण के लिए सरकार, शैक्षणिक संस्थानों, सामाजिक संगठनों और नागरिक समाज को सामूहिक प्रयास करने होंगे। जब मातृशक्ति शिक्षित, सशक्त, आत्मनिर्भर और सम्मानित होगी, तभी उत्तराखण्ड अपनी समृद्ध सांस्कृतिक पहचान, प्राकृतिक धरोहर और विकास की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए एक समृद्ध, आत्मनिर्भर और आदर्श राज्य के रूप में निरंतर आगे बढ़ सकेगा।

सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने के लिए सामूहिक प्रयास करें। जब मातृशक्ति सशक्त होगी तभी उत्तराखण्ड अपनी सांस्कृतिक पहचान के साथ विकसित और समृद्ध राज्य के रूप में आगे बढ़ेगा।

स्वावलंबन से सशक्त होगी संस्कृति संस्कृति से सुरक्षित होगा उत्तराखण्ड

दिनेश बम
महामंत्री
अपनी धरोहर न्यास

उत्तराखण्ड केवल एक भौगोलिक प्रदेश या राज्य की सीमा का नाम नहीं है, बल्कि यह देवभूमि की उस महान और प्राचीन सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है, जहाँ हिमालय जीवन का मुख्य आधार है। यहाँ की नदियाँ केवल जलस्रोत नहीं बल्कि आस्था की निरंतर बहती धाराएँ हैं, वन प्रकृति का अतुलनीय वैभव हैं और लोकसंस्कृति इस समाज की आत्मा में बसती है। यहाँ की लोकपरंपराएँ, मेले–त्योहार, देवपूजन, जागर, लोकगीत, लोकवाद्य, हस्तशिल्प और प्रकृति के साथ पूर्ण सामंजस्य में जीने की जीवन–पद्धति हमारी सबसे बड़ी और अमूल्य धरोहर हैं। यह धरोहर केवल उत्तराखण्ड की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता और विश्व की विरासत है।

आज के यथार्थ में सबसे बड़ा और चुभता हुआ प्रश्न यह है कि इस विरासत को आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित कैसे पहुँचाया जाए। क्या केवल मंचों से दिए गए संरक्षण के नारों, सम्मेलनों और कागजी घोषणाओं से संस्कृति बच सकती है? इसका उत्तर नकारात्मक है। संस्कृति की रक्षा का वास्तविक उत्तर समाज की आर्थिक आत्मनिर्भरता और उनके अपने संसाधनों पर उनके मालिकाना हक में छिपा है। इतिहास गवाह है कि आर्थिक रूप से कमजोर और आश्रित समाज धीरे–धीरे अपनी सांस्कृतिक पहचान, स्वाभिमान और अंततः अपना अस्तित्व खोने लगता है। जिस समाज के लोग स्वावलंबी होते हैं, वही अपनी संस्कृति, परंपराओं और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा करने में सक्षम होते हैं। एक भूखा व्यक्ति अपने लोकगीत नहीं गा सकता, और एक बेरोजगार युवा अपनी पारंपरिक कला को सहेजने के बजाय शहरों में छोटे स्तर की नौकरियां करने को मजबूर हो जाता है। इसलिए, उत्तराखण्ड की संस्कृति को बचाने की पहली शर्त है उत्तराखण्ड के व्यक्ति का आर्थिक स्वावलंबन।

हम हस्तशिल्प और लोककला की बातें तब तक नहीं कर सकते, जब तक हम पलायन के कड़वे सच का सामना न करें। आज उत्तराखण्ड के हजारों गाँव 'घोस्ट विलेज' में तब्दील हो चुके हैं और घरों के आंगन सूने पड़े हैं। जब गाँव में लोग ही नहीं बचेंगे, तो पांडव नृत्य कौन करेगा, नंदा राजजात यात्रा में कौन शामिल होगा, और छोलिया नृत्य की ताल किस आंगन में गूंजेगी? पलायन का मूल कारण संस्कृति से अरुचि नहीं, बल्कि स्वास्थ्य, शिक्षा और सम्मानजनक रोजगार का अभाव है। जब बुनियादी ढांचे की कमी के कारण लोग पहाड़ छोड़ते हैं, तो वे केवल अपना घर नहीं छोड़ते, वे अपनी बोलियां, अपने रीति–रिवाज और अपने पारम्परिक ज्ञान को भी पीछे छोड़ जाते हैं। शहरों में जाकर वे एक ऐसी भीड़ का हिस्सा बन जाते हैं, जहाँ उनकी पहचान विलुप्त हो जाती है।

आज सांस्कृतिक पर्यटन को रोजगार का एक बड़ा साधन माना जा रहा है, लेकिन इसमें एक बहुत बड़ा खतरा भी छिपा है। पर्यटन के नाम पर यदि बाहरी पूंजीपति पहाड़ में बड़े–बड़े रिसॉर्ट बनाकर स्थानीय लोगों को केवल वेटर या गाइड की नौकरी देंगे, तो यह स्वावलंबन नहीं, बल्कि आधुनिक शोषण है और इससे संस्कृति का केवल व्यवसायीकरण होता है। हमें ऐसे मॉडल की आवश्यकता है जहाँ होमस्टे का स्वामित्व स्थानीय ग्रामीणों के पास हो, न कि बाहर से आई कंपनियों के पास। पर्यटकों के मनोरंजन के लिए संस्कृति का रूप न बदला जाए, बल्कि उसकी प्रामाणिकता बनी रहे। पर्यटक हमारी जीवनशैली देखने आएं, न कि हम उनके अनुसार अपनी जीवनशैली बदलें। इसके साथ ही, पर्यटन का दबाव हिमालय के संवेदनशील पर्यावरण को नष्ट न करे, इसका ध्यान रखना भी नितांत आवश्यक है।

समय की मांग है कि व्यापारी वर्ग, उद्योग जगत, सामाजिक संगठन और शासन–प्रशासन मिलकर धरातल पर ऐसे प्रयास करें जिनसे उत्तराखण्ड के युवाओं, महिलाओं, कलाकारों, शिल्पकारों और ग्रामीण समाज को उनके गाँव में ही सम्मानजनक आजीविका प्राप्त हो। पहाड़ के मोटे अनाज, बुरांश, गहत की दाल और औषधीय जड़ी–बूटियों की राष्ट्रीय स्तर पर भारी मांग है। आवश्यकता इन्हें कच्चे माल के रूप में बेचने की नहीं, बल्कि स्थानीय स्तर पर इनकी प्रोसेसिंग, पैकेजिंग और ब्रांडिंग करके 'जीआई टैग' के माध्यम से वैश्विक बाजार तक पहुँचाने की है। इसके अतिरिक्त, रिंगाल और बांस के उत्पाद, ऐपण कला, ताम्रशिल्प और ऊनी वस्त्रों को ई–कॉमर्स प्लेटफॉर्म से जोड़कर बिचौलियों को हटाना होगा, ताकि शिल्पकारों को सीधा डिजिटल बाजार मिल सके। हमें यह भी समझना होगा कि उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था और संस्कृति दोनों की धुरी महिलाएँ हैं। कृषि से लेकर पशुपालन तक का भार उनके कंधों पर है। जब तक मातृशक्ति को सहकारी समितियों के माध्यम से आर्थिक निर्णयों का अधिकार नहीं मिलेगा, तब तक कोई भी विकास योजना सफल नहीं हो सकती।

इसी यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ 'अपनी धरोहर न्यास' संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन के साथ–साथ स्वरोजगार और आत्मनिर्भरता को अपने सामाजिक अभियान का अभिन्न अंग मानता है। हमारी कार्यकारिणी के अधिकांश सदस्य स्वयं विभिन्न व्यवसायों और उद्यमों से जुड़े हुए हैं, और हमारा अनुभव बताता है कि आत्मनिर्भर व्यक्ति ही समाज और संस्कृति के लिए स्थायी योगदान दे सकता है। आने वाले वर्षों में अपनी धरोहर न्यास केवल सांस्कृतिक कार्यक्रमों या मेलों के आयोजन तक सीमित नहीं रहेगा। हम युवाओं को पारंपरिक कलाओं के साथ–साथ डिजिटल मार्केटिंग, पैकेजिंग और उद्यमशीलता का प्रशिक्षण देने के लिए संकल्पित हैं। इसके साथ ही, स्थानीय कारीगरों और किसानों के उत्पादों को सही खरीदारों तक पहुँचाने के लिए एक पारदर्शी तंत्र स्थापित करने पर काम किया जा रहा है। हमारा उद्देश्य युवाओं को यह विश्वास दिलाना है कि सही दिशा और तकनीक का उपयोग किया जाए तो पहाड़ का पानी और पहाड़ की जवानी, दोनों पहाड़ के काम आ सकते हैं।

यह अभियान किसी एक जाति, क्षेत्र, भाषा या वर्ग का नहीं है, बल्कि यह पूरे उत्तराखण्ड और राष्ट्र के भविष्य को सुरक्षित करने का एक महायज्ञ है। प्रकृति ने हमें गंगा–यमुना जैसी पावन नदियाँ, जैव विविधता से समृद्ध घने वन और अनमोल सांस्कृतिक विरासत प्रदान की है। इन्हें सुरक्षित रखना हमारा केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि कठोर व्यावहारिक और राष्ट्रीय दायित्व है। यदि स्थानीय समाज को विकास का केवल दर्शक या मजदूर बनाने के बजाय उसका मालिक और सहभागी बनाया जाएगा, तभी संरक्षण के प्रयास स्थायी और सफल होंगे।

हमें दृढ़ विश्वास है कि जिस दिन उत्तराखण्ड का प्रत्येक कलाकार, प्रत्येक युवा, प्रत्येक किसान, प्रत्येक शिल्पकार और प्रत्येक उद्यमी सही मायनों में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होगा, उसी दिन हमारी संस्कृति भी सबसे अधिक सशक्त होगी। स्वावलंबन और संस्कृति अलग–अलग विषय नहीं, बल्कि एक–दूसरे के पूरक हैं। इन्हीं दोनों के यथार्थवादी समन्वय से उत्तराखण्ड की पहचान, उसकी देवतुल्य प्रकृति और उसकी अमूल्य धरोहर सदैव सुरक्षित और जीवंत रहेगी। आइए, हम सब मिलकर इस वास्तविकता को स्वीकारें और संकल्प लें ठोस आर्थिक नींव पर एक स्वावलंबी समाज का निर्माण करें, अपनी जड़ों को सींचकर संस्कृति को सशक्त बनाएँ और आने वाली पीढ़ियों के लिए उत्तराखण्ड की इस अनमोल धरोहर को एक जीवित, जागृत और समृद्ध रूप में सौंपें।

हिमालय की धड़कन

गढ़वाल का लोक संगीत और ढोल सागर का नाद सौन्दर्य

प्रो. दाताराम पुरोहित
संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार

पहाड़ों की तलहटी में बसे ऋषिकेश जैसे शहरों में जहां एक तरफ कंक्रीट के जंगल बढ़ रहे हैं और पुराने खेल के मैदान सिकुड़ रहे हैं, वहीं इन घाटियों के भीतर आज भी एक ऐसा नाद गूंजता है जो हमारी आत्मा को सदियों पुरानी विरासत से जोड़ देता है। हिमालय की खामोशी में जब भी कोई स्वर उभरता है, तो वह केवल एक ध्वनि नहीं होती, बल्कि परंपरा, उल्लास, दर्द और देव आस्था का जीवंत दस्तावेज होता है। हवा की सरसराहट और नदियों के शोर से उत्पन्न इसी नाद को गढ़वाल के लोक संगीत ने अपने भीतर सहेज लिया है। प्रसिद्ध कलावंत और लोक संगीत मर्मज्ञ केशव अनुरागी ने अपनी अप्रतिम कृति नाद नन्दिनी में इसी गढ़वाली लोक संगीत को राग, सुर और ताल की कसौटी पर परखते हुए एक ऐतिहासिक काम किया है। इस किताब के पन्नों से गुजरना ऐसा है जैसे किसी गहरी सांस्कृतिक खाई में उतरना, जहां शिव का डमरू भी है और घास काटती हुई किसी घस्यारी की विरह वेदना भी। आइए, संगीत की इस सुरसरि में एक गोता लगाएं और समझें कि गढ़वाल का लोक संगीत और उसका वाद्य संसार इतना खास क्यों है।

संगीत सिर्फ शब्दों का खेल नहीं है। शब्द साकार हैं, लेकिन स्वर निराकार हैं। जब ये दोनों मिलते हैं, तो जिस रस की सृष्टि होती है, वही सच्चा लोक संगीत है। प्रख्यात संगीतज्ञ कुमार गंधर्व ने नाद नन्दिनी की प्रस्तावना में लिखा है कि लोक संगीत निसर्ग या प्रकृति में स्वयं स्फूर्ति से खिला हुआ सहस्त्रदल कमल है, जिसकी हर पंखुड़ी में हमें राग संगीत के बाल रूप के दर्शन होते हैं। शास्त्रीय संगीत कोई आसमान से उतरी विधा नहीं है, यह लोक संगीत का ही मथा हुआ नवनीत यानी मक्खन है। आज जिन्हें हम पहाड़ी, मांड, दुर्गा या झिंझोटी जैसे राग कहते हैं, वे दरअसल इन्हीं दुर्गम पर्वतों की पगडंडियों पर जन्मी लोक धुनों का परिमार्जित रूप हैं। लोक गायक किसी संगीत शास्त्र का मोहताज नहीं होता। उसकी धुन स्वयंभू है। वह गाता है तो सुर अपने आप सध जाते हैं और एक ऐसा जादुई माहौल बन जाता है जो सीधे दिल में उतरता है।

केशव अनुरागी जी ने वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से गढ़वाली लोक गीतों को दो मुख्य हिस्सों में बांटा है, अर्द्ध सप्तकी और सम्पूर्ण सप्तकी लोक गीत। अर्द्ध सप्तकी लोक गीत वे गीत हैं जो सप्तक के केवल आधे हिस्से यानी पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में गाए जाते हैं। इनमें मुख्य रूप से स्थायी चरण प्रधान होता है और अंतरा नहीं होती। इन गीतों में एक सहजता और मिट्टी की खुशबू है। विवाह और अन्य मंगल आयोजनों के अवसर पर महिलाओं या मंगलेरियों द्वारा गाए जाने वाले मांगल गीत अक्सर ताल मुक्त या भौंणेर शैली में होते हैं, जिसमें एक ही स्वर को लंबे समय तक खींचा जाता है। इनमें मुख्य रूप से देवी देवताओं का आह्वान होता है। इसी तरह जब डौर और थाली की खनकती हुई जुगलबंदी के बीच जागरी देवता की वीरगाथा या वारता छेड़ता है, तो पूरे माहौल में एक लोमहर्षक कंपन पैदा हो जाता है। यह संगीत भक्त को इतना अभिभूत कर देता है कि वह अपनी सुध बुध खोकर नाचने लगता है, जिसे स्थानीय भाषा में देवता आना कहा जाता है।

जंगलों में घास काटते हुए जब कोई बहू अपनी सास के ताने याद करती है या अपने दूर गए पति के वियोग में तड़पती है, तो उसकी पीड़ा झुमैला या घस्यारी गीत बनकर फूटती है। ये गीत उन्मुक्त हैं और वनस्थली में गाए जाते हैं क्योंकि वहाँ नायिका के आंसू देखने वाला कोई नहीं होता। भावनाओं की यही गोपनीयता नारी हृदय की विचित्रता है और यही इन धुनों को असीम गहराई देती है। इन गीतों में केवल भावनाएं ही नहीं बल्कि गढ़वाल का पूरा सांस्कृतिक इतिहास और भाषाई उत्पत्ति के रहस्य भी छिपे हैं। गुलबंद जैसे पारंपरिक आभूषणों का जिक्र भी इन लोक गीतों में बड़े ही मार्मिक ढंग से आता है। जब कोई पहाड़ी स्त्री वनस्थली में अपने गीतों को स्वर देती है तो उसके गले के गुलबंद की आभा और मन की पीड़ा दोनों ही उस संगीत में ढल जाते हैं। इसके अलावा थड्या और चौंफला जैसे गीत भी इसी श्रेणी में आते हैं, जहां लोग गोल घेरे में घूमते हुए, तालियों और पद संचालन के साथ अपनी खुशी जाहिर करते हैं।

दूसरी ओर सम्पूर्ण सप्तकी लोक गीत वे गीत हैं जो संगीत के सातों स्वरों का स्पर्श करते हैं और इनमें आरोह और अवरोह का पूरा निर्वाह होता है। यहाँ आपको शास्त्रीय संगीत की आलापचारी और टप्पा शैली की गिटकिड़ियां सुनने को मिलेंगी। घुमंतू गायक जैसे बादी और बेडा एक गांव से दूसरे गांव घूमकर इन गीतों को गाते हैं, जिनमें कृष्ण लीला और वीर गाथाएं शामिल होती हैं। रामी बौराणी का मशहूर लोक गीत, जिसमें बारह साल बाद युद्ध से लौटा एक सैनिक जोगी के भेष में अपनी पत्नी के सतीत्व की परीक्षा लेता

है, इसी सम्पूर्ण सप्तकी विधा का नायाब उदाहरण है। इन गीतों ने आधुनिक लोक गीतों की नींव रखी है और आज के दौर में यह लोक और सुगम संगीत के बीच एक सेतु का काम करते हैं।

गढ़वाल का संगीत बिना इसके अनूठे वाद्य यंत्रों के बेजान है। नाद नन्दिनी में ढोल सागर ग्रंथ के हवाले से विस्तार से बताया गया है कि यहाँ के वाद्य केवल चमड़े और लकड़ी के टुकड़े नहीं हैं, बल्कि उनके भीतर देवी देवताओं का वास है। ढोलसागर जो कि शिव और पार्वती के संवाद के रूप में रचित एक महाग्रंथ है, बताता है कि ढोल का निर्माण सृष्टि की निस्तब्धता को भंग करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने किया था। ढोल के अलग अलग अंगों में देवताओं का निवास माना गया है। इसकी डोरी में ब्रह्मा, नाद या ध्वनि में पवन और लकड़ी या गजाबल में विष्णु बसते हैं। तांबे के खोल से बने इस ढोल को बांई तरफ मुलायम खाल से मढ़ा जाता है जिसे मादा कहते हैं और दांई तरफ मोटी खाल से मढ़ा जाता है जिसे नर कहते हैं।

ढोल अकेला पूर्ण नहीं है, उसे दमाऊ के साथ ही बजाया जाता है जो कि एक कटोरेनुमा छोटा वाद्य है। दमाऊ से केवल तीन बोल निकलते हैं द, ग, और न, जो ढोल के झा, ता, झे से मिलकर एक जादुई तिलिस्म रचते हैं। यहाँ के वादक या आउजी अनपढ़ होते हुए भी जिस ताल शास्त्र का प्रयोग करते हैं, वह बड़े बड़े संगीतकारों को हैरत में डाल देता है। ढोल की कई तालों की जटिल स्वरलिपियां इस पुस्तक में दी गई हैं। बढ़ाई या बढ़े की ताल मंगल आयोजनों के आरंभ में शांत और गंभीर प्रकृति के साथ बजाई जाती है। धुंयेल देवोपासना की ताल है जिसकी गति मध्य से शुरू होकर इतनी तेज हो जाती है कि सुनने वाले के मन में भय और रोमांच पैदा कर देती है। इसका उपयोग काली और नृसिंह की पूजा में होता है। इसी प्रकार रहमानी ताल बारात के रास्ते में बजाई जाती है। यह तीन हिस्सों में बंटती है, जब बारात चढ़ाई चढ़ रही हो जिसे उकाल कहते हैं, जब उतराई पर हो जिसे उन्दार कहते हैं और जब समतल पर हो जिसे सैन्वार कहते हैं। कमाल की बात यह है कि कोई भी अनुभवी ग्रामीण सिर्फ ढोल की आवाज़ सुनकर बता सकता है कि बारात अभी नदी किनारे है या पहाड़ की चोटी पर।

इनके अलावा डौर और हुड़की भी अत्यंत महत्वपूर्ण वाद्य हैं। डौर को डमरू का ही एक प्राचीन रूप माना जाता है। जब शिव ने चौदह बार डमरू बजाया था, तो वह इसी डौर का मूल रूप रहा होगा। इसकी आवाज़ गुरु गंभीर और रौद्र होती है। इसे कंधे से लटकाने के बजाय घुटनों के बीच फंसाकर बजाया जाता है। दूसरी तरफ हुड़की है, जिसे प्राचीन काल में कत्यूरी राजाओं के दरबार में बजाया जाता था। ये वाद्य थाली के साथ मिलकर जागर और लोकगीतों की आत्मा बनते हैं।

आज जब हम हिमालयी पारिस्थितिकी में बदलाव देखते हैं, ऊंचाई वाले इलाकों में जल संकट बढ़ता जा रहा है और चीड़ के जंगलों में लगने वाली आग से प्राकृतिक संपदा नष्ट हो रही है, तो लोक मानस की यह व्यथा भी कहीं न कहीं भविष्य के लोक गीतों का हिस्सा बनने जा रही है। प्रकृति से जुड़ा यह लोक संगीत हमें याद दिलाता है कि हमारा अस्तित्व इन जंगलों और नदियों के बिना अधूरा है। नाद नन्दिनी सिर्फ एक किताब नहीं है, बल्कि लोक संगीत को बचाने की एक गंभीर चेतावनी भी है। आज के दौर में जब हर कोई सिनेमा संगीत के प्रभाव में है, कई नौसिखिए गायक और संगीतकार बिना लोक संस्कृति को समझे, इन प्राचीन धुनों के साथ बेतरतीब छेड़छाड़ कर रहे हैं। केशव अनुरागी जी ने साफ लिखा है कि लोक गीत को गाते समय कलाकार को संगीत शास्त्र या आधुनिकता का मोह वहीं तक रखना चाहिए, जहाँ तक गीत की नैसर्गिकता यानी उसका असली पहाड़ीपन न मरे। जब आप किसी बंद कमरे में आधुनिक यंत्रों पर किसी घस्यारी का गीत गाते हैं, तो वह सुगम संगीत तो बन सकता है, लेकिन उसमें उस औरत के आंसुओं की नमी और उस पहाड़ की मिट्टी की महक गायब हो जाती है।

गढ़वाली लोक संगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। यह पहाड़ों में रहने वाले इंसानों के जीवन की लय है, जन्म से लेकर मृत्यु तक और खेतों में पसीना बहाने से लेकर देवी देवताओं को प्रसन्न करने तक। नाद नन्दिनी के जरिये केशव अनुरागी ने उन गुमनाम वादकों, ओजस्विनी मंगलेरियों और उन तमाम घुमंतू गायकों को अमर कर दिया है जो पीढ़ियों से इस नाद परंपरा को अपनी सांसों में जिंदा रखे हुए हैं। हिमालय का इतिहास केवल उसकी बर्फीली चोटियों और नदियों में नहीं लिखा गया है, बल्कि यह उन धुनों में भी दर्ज है जो सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी सीने में धड़कती आ रही हैं। जब तक हिमालय खड़ा है, तब तक ढोल सागर की ये थाप और झुमैले की यह कसक कभी खामोश नहीं होगी। हमें इस सांस्कृतिक धरोहर को पूरे सम्मान और शुद्धता के साथ संजोना होगा ताकि आने वाली पीढ़ियां भी अपनी जड़ों की इस सुरीली धड़कन को महसूस कर सकें।

टीएचडीसी इंडिया लिमिटेड
THDC INDIA LIMITED
(अनुसूची 'ए' , मिनी रत्न , पीएसयू)
(Schedule 'A', Mini Ratna PSU)

Great Place To Work® Certified
JUL 2025-JUL 2026
INDIA

जल विद्युत	पम्प स्टोरेज	पवन ऊर्जा	सौर ऊर्जा	ताप ऊर्जा	परामर्श सेवाएं

एक एकीकृत वैश्विक ऊर्जा इकाई जो भारत की शुद्ध-शून्य आकांक्षाओं की अभिप्राप्ति के लिए सतत समाधान प्रदान करे ।